काव्य-कलश

सम्पादक-मंडल

प्रो० जगन्नाथराय शर्मा,
एम० ए० (गोल्ड-मेडलिस्ट)

श्री नवलकिशोर गौड़,
एम० ए० (गोल्ड-मेडलिस्ट)

श्रीमती दमयन्ती वर्मा 'विशारद'

—:०:—

प्रकाशक

नेशनल प्रेस

इलाहाबाद

भिन्न विषयों की रचनाओं का समावेश हो। आजकल के प्रचलित बहुत से संग्रह-ग्रन्थों में देखा जाता है कि संग्रहकार केवल कवियों के नाम की ओर ध्यान रखकर उनका जमघट लगा देते हैं और विषय का कुछ ख्याल नहीं करते। नतीजा यह होता है कि कई रोचक विषय अछूते रह जाते हैं और पुस्तक में न कोई आकर्षण रह जाता है और न विद्यार्थियों के मानसिक विकास का कोई साधन ही। जहाँ विभिन्नता ही नहीं वहाँ आनन्द कहाँ ? इसीलिये इस संग्रह मे हमने कवि-संग्रह का ध्यान छोड़कर कविता-संग्रह की ओर विशेष ध्यान रखा है और काव्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से भिन्न-भिन्न विषयों की उपयुक्त रचनाएँ चुनकर उपस्थित की हैं। विषयानुक्रमणिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

प्रचलित संग्रह ग्रन्थों में एक और दोष पाया जाता है। इधर उधर से कुछ रचनाएँ लेकर उन्हें बिल्कुल अव्यवस्थित रूप से फेंट-फाटकर संग्रह-ग्रन्थ तैयार कर दिये जाते हैं। उनमें न तो कोई क्रम रहता है और न कोई नियमित योजना ही। हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास की ओर से हमारे पाठ्य-ग्रन्थों के संकलयिता आँखें मूँद लेते हैं। इसका फल बुरा होता है। प्रारम्भ से ही विद्यार्थियों के मन में साहित्य का एक क्रम-हीन विकृत चित्र उपस्थित हो जाता है। इस दोष का निराकरण करने के लिये हिन्दी काव्य की भिन्न-भिन्न प्रगतियों तथा उनकी विशेषताओं के अनुसार हमने इस पुस्तक में संगृहीत रचनाओं को भिन्न-भिन्न धाराओं में विभक्त करके, उन्हें सुव्यवस्थित तथा शृङ्खला-बद्ध रूप देने का प्रयत्न किया है।

एक बात और है जो बहुत महत्वपूर्ण है। काव्य के कूचे में एक बार जो चले आते हैं उनके दिल में स्वभावतः रसानुभूति का चसका लग जाता है। अपने हृदय की प्यास बुझाने के लिये वे अपने मन के अनुकूल रस का अन्वेषण करते हैं। उन्हें भी कुछ

शौक हो जाता है—कुछ खास तरह की दिलचस्पी हो जाती है। उनकी इस साहित्यिक लालसा के विकास में उनकी परिस्थियों तथा संसर्गों का विशेष हाथ रहता है। कहीं किसी नवयुवक ने किसी सुकृती की कविता सुनी और उसका मन उसमें रम गया तो जब तक वह उस कविता को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे चैन नहीं। उसका आकुल हृदय उस कविता की कुछ कड़ियाँ जो उसकी वाणी में घुल सी जाती हैं, बार बार दुहराया करता है और तब तक एक अभाव का अनुभव करता रहता है जब तक वह सारी रचना उसे उपलब्ध नहीं हो जाती। वह किसी संग्रह-ग्रन्थ से अनेक कविताएँ पढ़ जाता है लेकिन जो चीज़ वह खोज रहा है उसे न पाकर, उसकी आकुलता ज्यों की त्यों बनी रहती है। हमें मालूम है कि 'दिनकर' की 'हिमालय' शीर्षक कविता को प्राप्त करने के लिये बहुत से विद्यार्थी, कवि तथा सम्पादकों के पास पत्र लिखा करते हैं। वास्तव में पाठक का कवि के साथ जितना ही निकट का सम्बन्ध होता है, उनकी रचना की ओर उनकी ममता और आकर्षण उतना ही अधिक रहता है। अतएव प्रचलित संग्रह-ग्रन्थों में विहार के समर्थ नवयुवक कवियों के प्रति जो उपेक्षा-भाव देखा जाता है वह विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से वांछनीय नहीं कहा जा सकता है। अपने प्रान्त के विद्यार्थियों की इस सहज काव्य लिप्सा की शान्ति के लिये हमने इस संग्रह में अपने यहाँ के लोकप्रिय नवयुवक कवियों की उन रचनाओं को यथा-संभव स्थान दिया है जो स्टैण्डर्ड के अनुकूल होती हुई उनके जीवन में उत्साह तथा स्फूर्ति का संचार कर सकें।

आज जब अँग्रेज़ी आदि विषयों के समान शिक्षा-क्रम में हिन्दी भी प्रधान स्थान ग्रहण कर रही है तब हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि पाठ्य-ग्रंथों के रूप में जो संग्रह रखे जायँ उनके गुण-दोषों की हम ठिकाने से जाँच कर लें। इसीलिये कविता-संग्रह

के लिये जो आवश्यक गुण हैं उनकी ओर हमने विज्ञ जनों का ध्यान ऊपर आकर्षित किया है। यदि हमारे इस संग्रह से विद्यार्थियों का कुछ हित हो सका तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

अन्त में हम उन कवियों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिनकी रचनाएँ इस पुस्तक में संगृहीत की गई हैं। साथ ही हमें उन लोगों से क्षमा प्रार्थना भी करनी है जिन्हें शायद अपने प्रिय कवियों के दर्शन इस संग्रह में न हो सके हों। आखिर सागर की विस्तृत सलिल-राशि को गागर में कैसे भरा जाय।

—सम्पादक

विषय-सूची

प्राचीन-धारा

नवीन-धारा

(प्रथम स्रोत)

कवि पृष्ठ

विषयानुक्रमणिका

काव्य-कलश

आ, भूलें हास-रुदन दोनों
मधुमय होकर दो-चार पहर !
है आज भरा जीवन मुझ में
है आज भरी मेरी गागर ।

—'बच्चन'

प्राचीन-धारा

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

—तुलसी

कबीरदास

जन्म—वि० सं० १४५५] [मृत्यु—वि० सं १५७५

कबीर का जन्म काशी के समीप हुआ था। कहा जाता है कि किसी विधवा ब्राह्मणी से ये उत्पन्न हुए थे और इनका लालन-पालन नीरू नामक एक जुलाहे तथा उसकी पत्नी नीमा ने किया था। इनकी पत्नी का नाम लोई और पुत्र का नाम कमाल था। इन्होंने स्वामी रामानन्द जी को अपना गुरु बनाया पर आगे चलकर अपना एक स्वतंत्र पंथ चलाया जिसे कबीर-पंथ कहते हैं। ये पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी भ्रमण और सत्संग के द्वारा इन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये हिन्दू और मुसलमान दोनों मतों की बुराइयों की कड़ी आलोचना किया करते थे और दोनों को एक करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों धर्मों के बाहरी आडम्बरों और भेदों को दूर करने के लिए एक ओर तो वे हिन्दुओं के मन्दिर, मूर्तिपूजा, वर्णव्यवस्था आदि का पूरे कट्टरपन के साथ विरोध करते थे और दूसरी ओर मुसलमानों की पशु हिंसा (क़ुरबानी), रोजा, नमाज, मस्जिद आदि की व्यवस्था की निन्दा करते थे।

इनकी कविता में रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार किया है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रेम-पंथ का प्रतिपादन किया है। इनकी 'बानी' का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रन्थ में हुआ है, जो कबीर-पंथियों का मुख्य धार्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—'साखी', 'सबद' और 'रमैनी'। इनकी कविता की भाषा मुख्यतः अवधी, भोजपुरी तथा अन्य प्राचीन भाषाओं का मिश्रण है। जहाँ-तहाँ इन्होंने अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है।
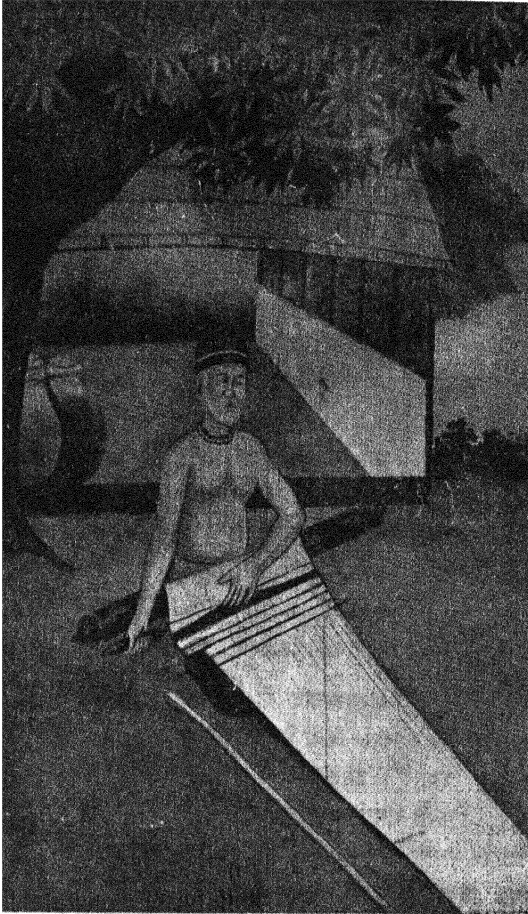
कबीरदास

कबीरदास

साखी

कबिरा निरभय राम जप, जब लगि दीयै बाति।
तेल घटा बाती बुझी, तब सोवैगा दिन राति॥ १ ॥
झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥ २ ॥
इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं॥ ३ ॥
भक्ति भाव भादों नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय॥ ४ ॥
साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय॥ ५ ॥
चन्दन गया बिदेसड़े, सब कोई कहै पलास।
ज्यों ज्यों चूल्हे झोंकिया त्यों त्यों अधिकी बास॥ ६ ॥
तिनका कबहूँ न निंदिए, जो पायन तर होय।
कबहूँ उड़ि आँखिन परै, पीर घनेरी होय॥ ७ ॥
करगस सम दुरजन बचन, रहै संत जन टारि।
विजुली परै समुद्र मैं, कहा सकैगी जारि॥ ८ ॥
तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़े घास॥ ९ ॥
बाढ़ी आवत देखि करि, तरवर डोलन लाग।
हम काटे की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग॥ १० ॥
माटी कहै कुम्हार को, तू क्या रूँदे मोहिं।
इक दिन ऐसा होइगा, मैं रूँदूँगी तोहिं॥ ११ ॥

कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही को भावता, सो ताही कै पास॥ १२॥
रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाखँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलैं भगवान॥ १३॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिये, जिसी जिमीं की खेह॥ १४॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिये, पाँणी जैसा रंग॥ १५॥
पाँणी भया तो क्या भया, ताता सीरा होइ।
हरिजन ऐसा चाहिये जैसा हरि ही होइ॥ १६॥
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान तें, मूरख भुगतै रोय॥ १७॥
साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥ १८॥
हंसा बक एक रँग लखिय, चरैं एक ही ताल।
छीर नीर तें जानिये, उघरै तेहि काल॥ १९॥
सुख के माथे सिल परै, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय॥ २०॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलैं, तो भी सस्ता जान॥ २१॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥ २२॥
जाति न पूछै साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥ २३॥
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना, मुझसा बुरा न कोय॥ २४॥

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पुजौं पहार।
तातें या चाकी भली, पीस खाय संसार॥ २५॥

काँकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दै, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥ २६॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥ २७॥

सीलवन्त सब तें बड़ो, सर्व रतन की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन॥ २८॥

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोइ एक॥ २९॥

ऋतु बसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुमपात।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जाय॥ ३०॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बे-परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहंसाह॥ ३१॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥ ३२॥

कबिरा धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारने, स्वान घरे घर जाय॥ ३३॥

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की साँस सों, लोह भसम हो जाय॥ ३४॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करै, तौ विष से अमृत होय॥ ३५॥

सबद

(१)

लोका मति का भोरा रे।

जो कासी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा रे।
राम भगति पर जाको हितचित ताको अचरज काहा।
गुरु-प्रताप साधु संगति जग जीतै जात जोलाहा॥
कहत कबीर सुनो रे सन्तो, भरम परौ जनि कोई।
जस कासी तस मगहा, ऊसर हृदय राम जो होई॥

(२)

रहना नहीं देस बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मर जाना है॥
यह संसार झाड़ औ झाँखर आग लगे जरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है।

(३)

मेरा तेरा मनुवाँ कैसे एक होइ रे।

मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी॥
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ अरुझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे॥
मैं कहता निरमोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोई रे॥
तू तो रंगी फिरे बिहंगी, सब धन डारा खोई रे।
सत गुरु धारा निरमल बाहै, वा में काया धोई रे॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, तबही वैसा होई रे

(४)

संतो देखहु जग बौराना।

साँच कहौ तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना॥
नेमी देखे, धरमी देखे, प्रात करहि असनाना।
आतम मारि पखानहिं पूजैं, उनमें कछू न ग्याना॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठें, मन में बहुत गुमाना।
साखी सबदै गावत भूले, आतम-खबरि न जाना॥
कह हिन्दू मोहिं राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूए, मरम न काहू जाना॥
कहत कबीर सुनो रे सन्तो, ये सब भरम भुलाना।
केतिक कहौं, कहा नहिं मानै, आपहि आप समाना॥

(५)

मन लागो है मेरो फ़क़ीरी में

जो सुख पावों नाम-भजन में सो सुख नहीं अमीरी में।
भला, बुरा सब को सुन लीजे, कर गुजरान गरीबी में॥
प्रेम नगर में रहनि हमारी, भलि बनि आई सबूरी में।
हाथ में कूँड़ी, बगल में सोंटा, चारो दिसि जागीरी में

सूरदास

जन्म—वि० सं० १५४०] [मृत्यु—वि० सं० १६२०

सूरदास का जन्म आगरा और मथुरा के मध्यवर्ती रुनकता नामक गाँव के एक सारस्वत ब्राह्मण-वंश में हुआ था। रूप-रङ्ग आदि का इन्होंने जैसा वर्णन किया है, उससे जान पड़ता है कि ये जन्मांध नहीं थे।

सूर और तुलसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। कहा जाता है कि इन्होंने भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में सवा लाख पदों की रचना की थी परन्तु अब तक केवल पाँच-छै हजार पद ही पाये जा सके हैं। ऐसे गीतों के लिखने में इनका स्थान अद्वितीय है। ये पद 'सूर-सागर' में संगृहीत हैं, जो श्रीमद्भागवत की कथा के क्रम के अनुसार लिखा गया है। ये श्री वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में थे। इनकी कविता का मुख्य विषय श्रीकृष्ण-लीला का वर्णन है। इन्होंने कृष्ण की बाल लीला, राधा कृष्ण का प्रेम और गोपियों के विरह का बहुत ही सजीव वर्णन किया है। इनकी भाषा ललित पदों से युक्त, भावपूर्ण तथा सरल है। जिस प्रकार कबीर की कविता में ज्ञान की प्रधानता है; उसी प्रकार इनकी कविता में हृदय के कोमल भावों और भक्ति का चरम उत्कर्ष पाया जाता है। इनकी कविता की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है।

महात्मा सूरदास जी

(काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के चित्र से)

सूरदास

पद

(१)

जागिये ब्रजराज कुँवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद-बृन्द सकुचत भये, भृंग-लता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गौ खरिकन में, बछरा हित धाई॥
बिधु मलीन रवि-प्रकास, गावत नर-नारी।
'सूर' स्याम प्रात उठौ, अंबुज करधारी॥

(२)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत अन्हावत ओंछत नागिन सी भुँइ लोटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
'सूर' स्याम चिरजिव दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी॥

(३)

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नँदरनियाँ।।
बरी बरा बेसन बहु भाँतिन व्यंजन बहु अनगनियाँ।
डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधिदनियाँ॥
मिसिरी दधि माखन मिस्रित करि मुख नावत छबिधनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ॥
जो रस नंद जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नंद अँचवन कीन्हों, माँगत 'सूर' जूठनियाँ॥

(४)

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत—मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर?
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

(५)

प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो!
समदरसी है नाम तिहारो अपने पनहि करो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
यह दुबिधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोऊ एक बरन भय सुरसरि नाम परो॥
एक जीव, एक ब्रह्म कहावत, 'सूर स्याम' झगरो।
अबकी बेर नाथ मोहि तारो, नहिं प्रन जात टरो॥

(६)

छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजति है परत भजन में भंग॥
कागहि कहा कपूर खवाये स्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥

(७)

मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु।
हरि को मुखकमल देखि पायो सुख-राजु॥
बैठति कर पीठ, ढीठ अधर छत्र छाहीं।
चमर चिकुर राजत तहँ, सुभग सभा माहीं॥
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति।
सुरपुर तें सुर बिमान भुवि भुलाइ लेति॥
बंसी बस सकल 'सूर' सुर नर मुनि नागा।
श्रीपतिहू श्री बिसारि, एही अनुरागा॥

(८)

ऊधो यह हरि कहा कर्‌यो ?
राज काज चित दयो साँवरे गोकुल क्यों बिसर्‌यो।
जौ लौं घोस रहे तौ लौं हम सन्तत सेवा कीनी।
बारक कबहुँ उलूखन बाँधे सोई मानि जिय लीनी॥
जो तुम कोटि करो ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहै अस जसुमति महतारि॥
कहँ गोधन कहँ गोप-बृन्द सब कहँ गोरस को खैबो।
'सूरदास' अब सोई करो जिहि होय कान्ह को ऐबो॥

(९)

ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंससुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाहीं ।।
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाही ।
ग्वाल-बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ।।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुकुताहल जाहीं ।
जबहि सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं ।।
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं ।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं ।।

(१०)

हम भक्तन के भक्त हमारे ।
सुनु अर्जुन परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारे ।।
भक्तै काज लाज हिय धरि कै पाइ पयादे धाऊँ ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ ।।
जो मम भक्त सो बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो ।
देखि बिचारि भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो ।।
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारौं ।
'सूरदास' सुनि भक्त बिरोधी, चक्र-सुदर्शन जारौं ।।

तुलसीदास

जन्म—वि० सं० १५८६] [मृत्यु—वि० सं० १६८०

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि बचपन में ही ये माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गये। नरहरिदास नामक एक महात्मा के संरक्षण में इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई और उन्होंने ही इनका नाम तुलसीदास रखा। इनका पहला नाम रामबोला था। नरहरिदास जी से इन्होंने कई बार रामायण की कथा सुनी थी। इनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। एक बार इनकी अनुपस्थिति में वह अपने मायके चली गई। उसका वियोग न सह सकने के कारण ये भी उसके पीछे-पीछे वहाँ जा पहुँचे। पति के इस व्यवहार से रत्नावली बहुत लज्जित हुई और उसने इन्हें बहुत धिक्कारा। उसने कहा कि आपकी जितनी प्रीति मुझमें है उतनी अगर श्रीरामचन्द्र जी में होती तो आप भव-बंधन से मुक्त हो जाते। उसकी बातों से गोस्वामी जी को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे विरक्त हो गये।

गोस्वामी जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। अपने 'रामचरित मानस' के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषा को अमूल्य सम्पत्ति दी है। 'रामचरित-मानस' भारतवर्ष का धार्मिक ग्रन्थ है। संसार भर में कोई भी पुस्तक इससे अधिक जन-प्रिय नहीं है। निरक्षरों से लेकर साहित्य के विद्वानों तक सभी इसका रसास्वादन करके संतोष और शान्ति प्राप्त करते हैं। गाँव की झोपड़ियों से लेकर राज महलों तक में इसकी उक्तियों का प्रयोग बात-बात में होता है।

गोस्वामी जी को भाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त था, फिर भी इन्होंने सरलता का पूरा ध्यान रखा है। इनकी भाषा का आधार मुख्यतः अवधी है। 'रामचरित-मानस' में काव्य के उत्कृष्ट कोटि के गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मानव जीवन की प्रायः प्रत्येक परिस्थिति का अत्यन्त सजीव चित्रण इस पुस्तक में किया गया है। सूर और तुलसी में यही अंतर है कि सूर का काव्य-क्षेत्र तुलसी के काव्य-क्षेत्र के समान व्यापक नहीं है; उसमें जीवन की उतनी भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश नहीं है जितनी तुलसी के काव्य-क्षेत्र में। तुलसीदास भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन के आदर्शों के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार हैं।

अवधी के अतिरिक्त इन्होंने ब्रज-भाषा में भी रचना की है। 'रामचरित-मानस' के अतिरिक्त इन्होंने विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, तुलसी सतसई आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास

संत-असंत-लक्षण

संत असंत भेद बिलगाई। प्रणतपाल मोहि कहहू बुझाई॥
संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित स्रुति पुरान विख्याता॥
संत असंतन्ह कै अस करनी। जिमि कुठार, चदन आचरनी॥
काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई॥

तातें सुर सीसन्ह चढ़त, जगबल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दंड॥

विषय अलंपट सील गुनाकर। परदुख दुख, सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
विगत काम मम नाम परायन। शांति विरति विनीत मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज पद-प्रीति धरम-जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहि जासु उर। जानहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहि। परुष वचन कबहूँ नहि बोलहिं॥

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मंदिर सुखपुंज॥

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥
तिन्हकर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहिं घालै हरहाई॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा पर-सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम-क्रोध-मद-लोभ - परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥

बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥

पर-द्रोही पर-दार-रत, पर-धन पर-अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदरपर जमपुर-त्रास न॥
काहू की जो सुनहिं बड़ाई। स्वाँस लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू पै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग-नृपती॥
स्वारथ-रत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गये अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। वेद-विदूषक पर-धन स्वामी॥
विप्र-द्रोह सुर-द्रोह विसेपा। दंभ कपट जिय धरे सुवेषा॥

ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं॥
द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माहिं॥

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निरनय सकल पुरान वेद कर। कहेउ तात जानहिं कोविद नर॥
नर सरीर धरि जे पर-पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव-भीरा॥
करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ-रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता॥
अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ-दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि-नायक॥
संत असंतन्ह के गुन भाखे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥

बाल-लीला

सवैया

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से।
तुलसी मनरंजनक रंजित अंजन नैन सु-खंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे ॥१॥

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा, झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये।
अरबिन्द सो आनन, रूपमरन्द अनन्दित, लोचन-भृंग पिये।
मन में न बस्यो अस बालक जौ तुलसी जग में खल कौन जिये ॥२॥

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन-मन्दिर में बिहरैं ॥३॥

कबहूँ ससि माँगत आरि धरैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी-मन-मन्दिर में बिहरैं ॥४॥

बर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच, जगै छबि मोतिनमाल अमोलन की।
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥५॥

राम-केवट-संवाद

सवैया

एहि घाट तें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू? ॥
तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू?।
बरु मारिए मोहिं, बिना पग धोए, हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥१॥

रावरे दोष न पायँन को, पग धूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बरु-बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है।
पावन पायँ पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?।
तुलसी सुनि केवट के वर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥२॥

घनाक्षरी

पातभरी सहरी सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछू बेद न पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याही लागि, राजा जू!
हौं दीन बित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं?।
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वै कै बात न बढ़ाइयौं।
तुलसी के ईस राम रावरे सों साँची कहौं,
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइहौं ॥३॥
जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि,
त्रिपथगामिनि-जसु बेद कहैं गाइ कै।
जिनको जोगीन्द्र मुनिबृन्द देव देह भरि,
करत बिराग जप जोग मन लाइ कै ॥
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौन सो लिवाइ कै।

तेई पायँ पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौ न पठावनी कै ह्वैहौं न हँसाई कै ॥४॥

पद

(१)

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तजेउ पिता प्रह्लाद बिभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तजेउ नाह ब्रज-बनितन्ह भय जग मंगलकारी॥
नातो नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटइ, बहुतक कहउँ कहाँ लौं॥
तुलसी सोइ आपनो सकल विधि पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होइ सनेह राम सों एतो मतो हमारो॥

(२)

अबलौं नसानी अब न नसइहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसइहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर करतें न खसइहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसइहौं॥
परबस जानि हँसेउ निज इन्द्रिन्ह, इन्हबस होइ न हँसइहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद-पदुम-बसइहौं॥

(३)

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओस-कन की॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न पानि पुनि, हानि होत लोचन की॥
ज्यों गच काँच बिलोक स्येन जड़, छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छत बिसारि आनन की॥

कहँ लौं कहेउ कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की॥

दोहे

(४)

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ जस, चातक तुलसीदास॥ १॥

ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घनस्याम सों, कै दुख सहै शरीर॥ २॥

तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फलहिं पर हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत॥ ३॥

असन बसन सुत नारि सुख, पापिहुँ के घर होइ।
सन्त-समागम राम-धन, तुलसी दुर्लभ दोइ॥ ४॥

प्रेम बैर अरु पुन्य अघ, जस अपजस जयहान।
बात बीज इन सबन को, तुलसी कहहिं सुजान॥ ५॥

दुर्जन दर्पन सम सदा, करि देखौ हिय गौर।
सनमुख की गति और है, बिमुखभये पर और॥ ६॥

साहिब ते सेवक बड़ो, जो निज धर्म सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि, नाँघि गये हनुमान॥ ७॥

तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥ ८॥

रैन को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भान।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान॥ ९॥

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन सांति पद, तुलसी अमल अराग॥ १०॥

मीराबाई

जन्म—वि० सं० १५७३] [मृत्यु—वि० सं० १६०३

मीराबाई का जन्म मेड़ता (जोधपुर) के चौकड़ी नामक गाँव में हुआ था। ये राठौर राजकुल की कन्या थीं और मेवाण के महाराणा कुमार भोजराज से ब्याही गई थीं। लेकिन राजवंश में एक भक्तिन के लिए स्थान कहाँ ? इसी कारण उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े, अपमानित और कलङ्कित होना पड़ा, पर 'गिरधर गोपाल' से इनका नाता नहीं टूटा। ये अटल बनी रहीं। अन्त में मेवाड़ छोड़कर ये वृन्दावन चली गईं और वहीं कृष्ण की भक्ति में लीन रहने लगीं।

इनकी गणना उच्च कोटि के भक्त कवियों में होती है। स्त्री कवियों में तो इनका स्थान निर्विवाद सर्वोच्च है। इनके पद ललित, भाव-पूर्ण और मर्मस्पर्शी हैं। इनकी कविता का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सरल तथा निश्छल हृदय का तन्मय उद्‌गार है। इनकी भाषा में राजस्थानी और सरल ब्रजभाषा का पुट है जो प्रायः सभी जगह सुबोध है।

कहा जाता है कि इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी से एक बार अपने कष्टों के विषय में सम्मति ली थी जिस पर गोस्वामी जी ने इनके पास "जाके प्रिय न राम-वैदेही" वाला पद लिख भेजा था।

मीराबाई

(१)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरो न कोइ साधो सकल लोक जोई।
भाई छोड़्या बन्धु छोड़्या छोड़्या सगा सोई।
साधु संग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी भई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम-बेलि बोई॥
दधि मथि घृत काढ़ि लियो डारि दई छोई।
राणा विष प्यालो भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तौ बात फैल गई जाणै सब कोई।
मीरा पिय लगन लागी होनी हो सो होई॥

(२)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल॥
मोर मुकुट मकराकृति कुंडल, अरुण तिलक दिये भाल।
अधर-सुधा-रस मुरली राजति उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि-तट सोभित नूपुर-सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगत-बछल गोपाल॥

(३)

राणा जी, मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर हमार साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ॥
रैन पड़े पर ही उठ धाऊँ, भोर भये घर आऊँ।
रैन-दिवस वाके संग खेलूँ जो रीझे तो रिझाऊँ ॥
जो वहि पहिरे सो ही पहिरूँ, जो दे सो ही खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ ॥
जँह बैठा दे तितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ॥

(४)

पायोजी मैंने नाम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु भव-सागर तर आयो।
जनम जनमकी पूँजी पाई जग मे सभी खोवायो।
खरचे नहिं कोई चोर न लेवे दिन दिन बढ़त सवायो ॥
सत की नाव खेवैया सतगुरु भवसागर तर आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरख हरख जस गायो।

(५)

रामनाम रस पीजै मनुआँ रामनाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि-चरचा गुन लीजै ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ चित से बहाय सु दीजै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताहि के रँग में भीजै ॥

अब्दुर्रहीम खानखाना

जन्म—वि० सं० १६१०] [मृत्यु—वि० सं० १६८२

रहीम इतिहास-प्रसिद्ध बैराम खाँ के पुत्र थे। अकबर ने इन्हें सेनापति बनाया था और अपने मन्त्रि-मण्डल तथा नवरत्नों में इन्हें स्थान दिया था। ये संस्कृत, अरबी-फारसी और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। विद्वानों तथा साधु सन्तों का ये हृदय से आदर-सत्कार करते थे। इनकी दानशीलता प्रसिद्ध है। एक बार इन्होंने गंग कवि को उनके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। ये नीति के परम पंडित और व्यावहारिकता में दक्ष थे। मुसलमान होकर भी ये कृष्ण के अनन्य उपासक थे। वृन्दावन से इन्हें बहुत प्रेम था।

रहीम की कविता नीति तथा अनुभव की बातों से भरी हुई है। इनके दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं। दोहों के अतिरिक्त बरवै छन्द में भी इन्होंने एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। दोहों में ब्रजभाषा का तथा बरवै में अवधी का प्रयोग किया गया है। कहा जाता है कि इन्हीं के आग्रह से गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी 'बरबै-रामायण' की रचना की। इनकी कविता स्पष्ट सरल और चमत्कार-पूर्ण है जिससे इनकी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

काम न काहू आवई, मोल रहीम न लेइ।
बाजू टूटे बाज को, साहब चारा देइ॥ १२॥

कोउ रहीम जनि काहु के, द्वार गये पछिताय।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबै लै जाय॥ १३॥

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगे, बढ़े अँधेरो होय॥ १४॥

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गइ सरग-पताल।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल॥ १५॥

कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जात धनिन की बात।
घटे बढ़े उनको कहा, घास बेचि जे खात॥ १६॥

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत॥ १७॥

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि॥ १८॥

दादुर मोर किसान मन, लग्यो रहै घन माहिं।
पै रहीम चातक रटनि, सरवर को कोउ नाहिं॥ १९॥

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहि लखै, दीनबन्धु सम होय॥ २०॥

कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपुने, इनके फाटत अंग॥ २१॥

खीरा को मुँह काटिकै, मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियै यहो सजाय॥ २२॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥ २३॥

दुरदिन परे रहीम कहि, दुरथल जैयै भागि।
ठाढ़े हूजत घूर पर, जब घर लागत आगि॥ २४॥

जो पुरुषारथ ते कहूँ, सम्पति मिलति रहीम ।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥ २५ ॥

रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समझहिं सब ताहि ॥ २६ ॥

रहिमन मनहिं लगाय के, देखि लेहु किन कोय ।
नर को बस करिबो कहा, नारायन बस होय ॥ २७ ॥

रहिमन लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाय ।
राग सुनत पय पियत हू, साँप सहज धरि खाय ॥ २८ ॥

नहिं रहीम कुछ रूप गुन, नहिं मृगया अनुराग ।
देसी स्वान जो राखिए, भ्रमत भूखही लाग ॥ २९ ॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करो किन कोय ।
रहिमन बिगरे दूध को, मथे न माखन होय ॥ ३० ॥

होय न जाकी छाँह ढिग, फल रहीम अति दूर ।
बाढ़िहु सो बिन काज ही, जैसे तार खजूर ॥ ३१ ॥

रहिमन बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होय ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥ ३२ ॥

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान ।
कहि रहीम परकाज हित, संपति संचहिं सुजान ॥ ३३ ॥

यह रहीम निज संग लै, जनमत जगत न कोय ;
बैर, प्रीति, अभ्यास, जस, होत होत ही होय ॥ ३४ ॥

रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचे दाम ।
हरि बाढ़े आकास लौं, तऊ बावनै नाम ॥ ३५ ॥

बिहारीलाल

जन्म—वि० सं० १६६०] [मृत्यु—वि० सं० १७२०

महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट बसुवा गोविन्दपुर नामक गाँव के एक माथुर चौबे वंश में हुआ था। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे और उन्हीं के कहने से इन्होंने सात सौ दोहों की रचना की थी जिनका संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इनके काव्य-कौशल पर मुग्ध होकर महाराज जयसिंह ने इन्हें प्रत्येक दोहे के लिये एक एक अशर्फी दी थी। हिन्दी-काव्य-साहित्य में 'बिहारी सतसई' का एक खास स्थान है। हिन्दी में उसकी नई और पुरानी कई टीकाएँ निकल चुकी हैं।

इनकी कविता व्रज-भाषा में है। व्रज भाषा को इन्होंने खूब सँवारा है। छोटे छोटे दोहों में इन्होंने चमत्कार के साथ जितना अधिक अर्थ भर डाला है उतना और कोई कवि नहीं भर सका। यही इनकी विशेषता है। इनकी कविता में शृङ्गाररस प्रधान है। भाव अनूठे और कहने का ढंग चमत्कार-पूर्ण है। इनकी भाषा प्रायः सरल है, अतः भाव गंभीर होने पर भी दुरुह नहीं। 'बिहारी-सतसई' में नीति और भक्ति-पक्ष की भी कुछ सुन्दर उक्तियाँ हैं। यहाँ उनकी ऐसी ही मनोहर सूक्तियों के कुछ नमूने दिये गये हैं।

विहारीलाल

बिहारीलाल

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय ॥ १ ॥

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥ २ ॥

तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं केहि बाट।
बिकट जटे जौ लौं निपट, खुलैं न कपट-कपाट ॥ ३ ॥

को कहि सकै बड़ेन सों, करत बड़ी यै भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारन वे फूल ॥ ४ ॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥ ५ ॥

इहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐ हैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ॥ ६ ॥

कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहैं गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब कौ, गँवई गाहक कौन ॥ ७ ॥

करि फुलेल कौ आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गन्धी, मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि॥ ८ ॥

कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय॥ ९ ॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं मत भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल॥ १० ॥

नीच हिये हुलस्यो रहत, गहे गेंद को पोत।
ज्यों-ज्यों माथे मारियत, त्यों-त्यों ऊँचो होत॥ ११ ॥

कहत सबै स्रुति सुमृतिहू, सबै सयाने लोग।
तीन दबावत निसँकहीं, पातक, राजा रोग॥ १२ ॥

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरो डरातु।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपातु॥ १३ ॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जाचत जाय।
दिए लोभ-चसमा चखनु, लघु तिहि बड़ौ लखाय॥ १४ ॥

बड़े न हुजै गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सो कनकु, गहनौ गढ़यौ न जाय॥ १५ ॥

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच॥ १६ ॥

कबौं न ओछे नरन सों, सरत बड़न के काम।
मढ़ौ दमामा जात कहुँ, लै चूहे के चाम॥ १७ ॥

सोहत ओढ़े पीत पटु, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप पर्यो प्रभात॥ १८ ॥

समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥ १९ ॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख-हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-विदारन-हार॥ २० ॥

जाके एकाएक हूँ जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै आकु डहडहौ होइ॥ २१ ॥

मीत न नीति, गलीत यह, जो धरिए धन जोरि।
खाए-खरचे जो जुरै, तौ जोरिए करोरि॥ २२ ॥
चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ये बृपभानुजा, वे हलधर के बीर॥ २३ ॥

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि. सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह॥ २४ ॥

प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि।
मरुधर पाय मतीरहू मारू कहत पयोधि॥ २५ ॥

विषम वृषादित की तृषा, जियत मतीरनि सोध।
अमित अगाध अपार जल, मारो मूढ़ पयोधि॥ २६ ॥

अति अगाध अति ओथरो, नदी, कूप, सर, वाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥ २७ ॥

संगत सुमति न पावई, परे कुमति के धंध।
राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगंध ॥ २८ ॥

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचो होइ ॥ २९ ॥

दिन दस आदर पाइकै, करि लै आपु बखान।
जौ लगि काग सराध पखु, तौ लगि तौ सनमान ॥ ३० ॥

जपमाला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन-काचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम ॥ ३१ ॥

हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥ ३२ ॥

नवीन धारा

(प्रथम स्रोत)

तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृतवानी सब कहैं।

—भारतेन्दु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म—वि० सं १६०७] [मृत्यु—वि० सं १६४२

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वर्तमान हिन्दी के जन्मदाता माने जाते हैं। हिन्दी में राष्ट्रीयता की आवाज़ सबसे पहले इन्हीं ने उठाई थी। हिन्दी के लिए वह दिन बड़े सौभाग्य का था जब भारतेन्दु जी ने भारतीयों को सम्बोधित करके कहा था—"रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई"। उसी दिन हिन्दी की नवीन धारा का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतेन्दु जी इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पिता बाबू गोपालचन्द्र अच्छे कवि एवं भगवद्भक्त थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में बचपन से ही काव्य प्रतिभा दीख पड़ने लगी थी। बड़े होने पर इन्होंने हिन्दी का संस्कार किया और अपनी बहुमुखी प्रतिभा से गद्य, पद्य, नाटक आदि लिख कर विविध प्रकार की रचना शैलियों का नवीन तथा शुद्ध रूप जनता के सामने रखा। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द से इन्होंने शुरू में कुछ अंग्रेजी पढ़ी थी; किन्तु वे फारसी मिश्रित भाषा लिखने के पक्षपाती थे। अतः भारतेन्दु जी ने उनका विरोध किया और शुद्ध सरल हिन्दी का प्रचार किया। इनकी रचना में करुण रस के अलावा हास्य और व्यंग के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इनकी कविताएँ प्रायः व्रजभाषा में हैं। ये बड़े रसिक, उदार और साहित्य-प्रिय थे। 'पेनी रीडिंग रूम' और 'तदीय समाज' आदि संस्थाओं को स्थापित कर तथा कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन आदि पत्र पत्रिकाओं को प्रकाशित कर इन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की। इनकी काव्य-प्रतिभा एवं साहित्यिक साधना के उपलक्ष्य में देश भर के पत्रों ने एकमत होकर इन्हें 'भारतेन्दु'

की उपाधि से सम्मानित किया था। ये बड़े दानी और खर्चीले थे इससे अंतिम समय में इन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। ये अपने समय के सर्वप्रिय तथा सर्व-सम्मानित विद्वान् तथा कवि थे। ३५ वर्ष की छोटी उम्र पाकर भी इन्होंने काव्य, नाटक, इतिहास, उपन्यास, परिहास आदि सैकड़ों छोटी बड़ी किताबें लिख डाली थीं। हिन्दी अपने इस युग प्रवर्तक कवि को कभी नहीं भूल सकती।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारत-दुर्दशा

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप-रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

× × ×

अङ्गरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अतिख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

(भारत-दुर्दशा से)

नारद की वीणा

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ।
गल तुलसी की माल बनी, जोहत मन मोहत ॥
कटि मृगपति की चरम, चरन मैं घुँघरू धारत ।
नारायण गोविन्द कृष्ण यह नाम उचारत ॥

लै बीना कर बादन करत; तान सात सुर सों भरत ।
जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत, जेहि सुनि नर भव-जल तरत ॥

जुग तूँबन की बीन परम सोभित मन भाई ।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जन-मन मोहैं ॥

कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन-गन के प्रगट ।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हूँ अघट ॥

मनु तीरथ-मय कृष्णचरित की काँवरि लीने ।
कै भूगोल खगोल दोऊ कर-अमलक कीने ॥
जग-बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई ।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई ॥

मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई ।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई ॥

(चन्द्रावली नाटिका से)

पद

(१)

जगत मैं घर की फूट बुरी ।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी ॥
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।
जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नाहि पुज्यो ॥
फूटहि सों नवनन्द बिनासे गयो मगध को राज ।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज ॥
जो जग मैं धन मान और बल अपुनो राखन होय ।
तो अपुने घर मैं भूलेहू फूट करो मति कोय ॥

(२)

खंडन जग में काको कीजै ।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै ।
तासों बाहर होइ कोऊ जब तब कछु भेद बतावै ।
ह्याँ तो वही सबै मत ताके तँह दूजो क्यों आवै ॥
अपुनो ही पै क्रोध बावरे अपुनो काटैं अंग ।
'हरीचंद' ऐसे मतवारेन को कहा कीजै संग ॥

(३)

जागो जागो रे भाई ।
सोअत निसि बैस गँवाई । जागो जागो रे भाई ॥
निसि की कौन कहे दिन बीत्यौ काल राति चलि आई ।

देखि परत नहि हित-अनहित कछु परे बैरि-बस आई ॥
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति, पकरि राखौ किन जो बची बड़ाई ॥
फिर पछिताये कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई।

(४)

सवैया

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनको कहा सत्रुन को डर है।
समुझैं जग मैं सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग विदेश मनो घर है ॥
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनको तिनकाहू महासर है।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है ॥

× × ×

जग सूरज चंद टरै तो टरै पै न सज्जन नेह कबौं बिचलै।
धन संपति सर्वस गेह नसौ नहि प्रेम की मेड़ सों एड़ टलै ॥
सतवादिन को तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा टलै तो टलै।
निज मीत की प्रीति प्रतीति रहौ इक, और सबै जग जाउ भलै ॥

श्रीधर पाठक

जन्म—वि० सं० १६१६] [मृत्यु—वि० सं० १६८६

आगरा जिले के जोंधरी नामक गाँव में पाठक जी का जन्म हुआ था। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद आप ग्रीष्म काल प्रायः काश्मीर में बिताया करते थे। काश्मीर-सुषमा, श्रीनगर, देहरादून आदि पर आपने बड़ी सुन्दर रचनाएँ व्रजभाषा में लिखी हैं।

पाठक जी ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में कविताएँ लिखी हैं तथा कितने ही अँग्रेजी काव्यों का हिन्दी में पद्यात्मक अनुवाद भी किया है। आपकी भाषा सरस तथा मधुर है। मौलिक रचनाओं की अपेक्षा आपके अनुवाद अधिक सफल और श्रुति-मधुर हुए हैं। आपकी खड़ी बोली में कहीं-कहीं व्रजभाषा के प्रयोग आ गये हैं। आपका 'एकान्तवासी योगी' अँग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' (Hermit) का अनुवाद होते हुए भी नवीन धारा में खड़ी बोली की प्रथम रचना होने के कारण महत्वपूर्ण है।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक

वनाष्टक

प्रेम की मूल सलोनी लता, बिलसैं द्रुम-अंगन सों लिपटी।
नव-पल्लव-संग प्रसून खिले, रचैं रंग-विरंगिन चित्र-पटी।
बिटपावली, बेलें बनावैं बितान, अनेकन एक सों एक सटी।
बन-भूमि की ऐसी छबीली छटा अलि के उर अन्तर आनि अटी ॥१॥

चारु हिमाचल आँचल में एक साल विसालन को बन है।
मृदु-मर्मर-शील झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत-ओट हैं निर्जन है।
लिपटे हैं लता-द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगन को गन है।
भटक्यो तहाँ रावरो भूल्यो फिरै मद-बावरो सा अलि को मन है ॥२॥

कोयल तू कल-बोलिनी री, शुक प्यारे हरे-पट-धारे, अहो।
भोरा मैना सुनैना रसीलेन को सो परेवा परेई को प्यारे, अहो।
अहो मोर मचावन-शोर, चकोर, पपीहा पिया-रटवारे अहो।
बन के तुम बाँके सदा के धनो, बन जीवन प्राण तिहारे अहो ॥३॥

झिल्ली करैं झनकार कहूँ फुफकारत साँपिनें रोस भरी।
पट-घुग्घू डरावने बोलत बोल, बिलापें बिलार घरी पै घरी।
कहूँ हूँकत स्यार हैं, भूकत ल्यारी, लराई लरैं लहि लास मरी।
निसि-भीसन-भावनैं या मन की, बन-बास की बासना नासकारी ॥४॥

बिन्ध्य के बन्य-विभाग में एक सरोवर स्वच्छ सुहावना है।
कमलों से भरा, भ्रमरों से घिरा, बिटपों से सजा, मन-भावना है।
कल-हंस स्वतंत्र कलोल करैं, खग-बृन्द का बोल लुभावना है।
बहैं मन्द-समीर पराग लिये, अनुराग-हिये-हुलसावना है ॥५॥

जेठ के दारुण आतप से तप के जगतीतल जावै जला।
नभ-मंडल छाया मरुस्थल-सा, दल बाँध कै अंधड़ आवै चला।
जल-हीन जलाशय, व्याकुल हैं पशु पत्ती, प्रचंड है भानु-कला।
किसी कानन-कुंज के धाम में, प्यारे करैं विस्राम चलो तो भला ॥६॥

काली घटा का घमंड घटा, नभ-मंडल तारका-बृन्द खिले।
उजियाली निशा,छबिशाली दिशा, अति सोहै धरातल फूले-फले।
निखरे सुथरे बन-पंथ खुले, तरु पल्लव चन्द्र कला से धुले।
बन शारदी-चन्द्रिका-चादर ओढ़ै लसैं समलंकृत कैसे भले ॥७॥

भारत में बन ! पावन तू ही तपस्वियों का तप आश्रम था।
जग-तत्व की खोज में लग्न जहाँ, ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था।
जब प्राकृत-विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और प्रभात पवित्र अनूपम था ॥८॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[जन्म सं० १६२२]

'हरिऔध' जी का जन्मस्थान आजमगढ़ जिलान्तर्गत निजामाबाद नामक कस्बा है। आप सरकारी कानूनगो के पद पर काम करते थे। वहाँ से पेंशन लेकर आजकल आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। दिल्ली के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति आप ही हुए थे।

'हरिऔध' जी खड़ी बोली के उन प्रारंभिक कवियों में हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं से यह सिद्ध कर दिखाया कि खड़ी बोली में भी व्रजभाषा के समान उच्चकोटि की कविताएँ लिखी जा सकती हैं। खड़ी बोली के कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आपने संस्कृत वृत्तों में 'प्रियप्रवास' नामक अतुकांत महाकाव्य लिखा है जो वर्तमान हिन्दी-साहित्य का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत-प्राय है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने कविता में बोलचाल की भाषा और मुहावरों तथा कहावतों का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। ऐसी कविताओं के तीन संग्रह—'बोलचाल' 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे'—प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे हैं जिनमें हिन्दी के सिवा अन्य किसी भी भाषा का कोई शब्द नहीं आने पाया है। 'प्रियप्रवास' और 'ठेठ हिन्दी का ठाट' विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं। भाषा पर हरिऔध जी का असाधारण अधिकार है। आपकी व्रजभाषा की रचनाएँ भी उच्चकोटि की होती हैं।
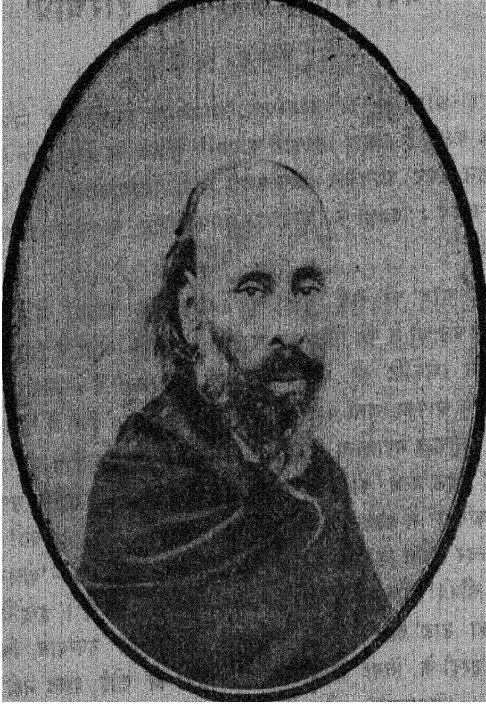
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय

संध्या-वर्णन

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥ १॥

विपिन-बीच विहंगम-वृन्द का
कल-निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली
उड़ रही नभ-मण्डल-मध्य थी॥ २॥

अधिक और हुई नभ लालिमा
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुञ्ज-हरीतिमा
अरुणिमा-विनिमज्जित-सी हुई॥ ३॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी
अरुणता अति ही रमणीय थी॥ ४॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला
गगन-मण्डल-मध्य शनैः शनैः॥ ५॥

ध्वनिमयी करके गिरि-कन्दरा
कलित कानन केलि-निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही
तरणिजा-तट-राजित-कुंज के॥ ६॥

कियत ही क्षण में वन-वीथिका
विविध-धेनु विभूषित हो गई।
धवल धूसर वत्स समूह भी
समुद था जिनके सँग सोहता॥ ७॥

गगन के तल गोरज छा गई
दश-दिशा बहु शब्दमयी हुई।
विशद गोकुल के प्रति-गेह में
बह चला वर स्रोत विनोद का॥ ८॥

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-वेणु का
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया
तुरत ही अनियंत्रित भाव से॥ ९॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी
उमगती अति आनँद में पगी।
उधर आ पहुँची बलवीर की
विपुल धेनु-विमंडित-मण्डली॥१०॥

ककुभ-शोभित गोरज बीच से
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि-कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है॥११॥

अतसि-पुष्प - अलंकृतकारिणी
सुछवि नील - सरोरुह - वर्द्धिनी ।
नवल-सुन्दर-स्याम - शरीर की
सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी ॥१२॥

मुदित गोकुल की जन-मण्डली
जब ब्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी
तृषित चातक ज्यों घन की घटा ॥१३॥

('प्रिय-प्रवास'—से)

एक बूँद

यों निकलकर बादलों की गोद से,
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी ।
सोचने फिर-फिर यही जी में लगी,
आह क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी ॥ १ ॥

देव, मेरे भाग में क्या है बदा,
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में ।
या जलूँगी गिर अँगारे पर किसी,
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में ॥ २ ॥

बह गई उस काल एक ऐसी हवा,
वह समुन्दर ओर आई अनमनी ।
एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला,
वह उसी में जा पड़ी मोती बनी ॥ ३ ॥

लोग यों ही हैं झिझकते सोचते,
जब कि उनको छोड़ना पड़ता है घर।
किन्तु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें,
बूँद लौं कुछ और ही देता है कर ॥ ४ ॥

मार्मिक सन्देश

चौपदे

स्वर्ण-प्रसवा था जिसका नाम।
जो धरा थी विभूति-सम्पन्न ॥
करोड़ों सुत उसके इन दिनों।
पा रहे हैं न पेट भर अन्न ॥ १ ॥

दिशाएँ जिसकी हो-हो ध्वनित।
सुनातीं सर्व भूति-हित राग।
चकित होते थे दिवि के देव।
जहाँ का देख अलौकिक त्याग ॥ २ ॥

वहाँ उत्पन्न हुए हैं आज।
इस तरह के माई के लाल ॥
वर विरद है जिनका विध्वंस।
काल से भी जो हैं विकराल ॥ ३ ॥

जहाँ का था वह सत्-सिद्धान्त।
सदा सब लोगों का हो भला ॥
फलें फूलें सब, सब हों सुखी।
न आये कभी किसी पर बला ॥ ४ ॥

वहाँ हैं आज उपद्रव खड़े।
कटे वह निरपराध-जन गले।
बालकों का वध है हो रहा।
छुरे अबलाओं पर भी चले॥ ५॥

जहाँ के वेद विभव से दिव्य।
बने तम-मज्जित वसुधा-ओक॥
जहाँ के विबुध-वृन्द ने सविधि।
लोक में फैलाया आलोक॥ ६॥

वहाँ के ही कुछ परम प्रवीण।
लाभ कर दुर्लभ दानव-नीति॥
बो रहे हैं अनर्थ का बीज।
पूत भू में भर रौरव भीति॥ ७॥

रसातल के समीप है आज।
दूसरा सुरपुर था जो देश॥
करेगा मर्म्मबेध किसका न।
सामयिक यह मार्मिक सन्देश॥ ८॥

('कर्मयोगी'—जुलाई १९३९)

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

[जन्म—वि० सं० १६४०]

'सनेही' जी खड़ी बोली की कविता के प्रारंभिक काल के अग्रगण्य कवियों में हैं। आप संस्कृत, उर्दू और हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं। हिन्दी के अतिरिक्त आप उर्दू में भी अच्छी कविता लिखते हैं। आप समस्या-पूर्ति और तत्काल रचना में भी निपुण हैं। कानपुर से निकलने वाले कविता विषयक मासिक-पत्र 'सुकवि' के आप सम्पादक और संचालक हैं। भरतपुर में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के कवि-सम्मेलन के आप ही सभापति चुने गये थे।

आपकी लिखी हुई प्रेम पचीसी, कुसुमांजलि, कृषक-क्रन्दन आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप 'त्रिशूल' उपनाम से राष्ट्रीय कविताएँ लिखा करते हैं। इस उपनाम से त्रिशूल-तरंग नामक आपकी एक पुस्तक निकल चुकी है। आप स्वभाव के विनोदी तथा बड़े उदार हैं। छप्पय, सवैया घनाक्षरी आदि प्राचीन छन्दों में खड़ी बोली की सुन्दर रचनाएँ करने में आप सिद्ध-हस्त हैं।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

बुझा हुआ दीपक

करने चले तंग पतंग जलाकर,
मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम-तोम का काम तमाम किया,
दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और,
सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं,
पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ॥ १॥

जगती का अँधेरा मिटाकर आँखों में—
आँख की तारिका होके समाये।
परवा न हवा की करें कुछ भी,
भिड़े आके जो कीट पतंग जलाये!
निज ज्योति से दे नव ज्योति जहान को,
अन्त में ज्योति में ज्योति मिलाये।
जलना हो जिसे वो जले मुझ-सा
बुझना हो जिसे मुझ-सा बुझ जाये॥ २॥

लघु मिट्टी का पात्र था, स्नेह भरा—
जितना उसमें भर जाने दिया।
धर बत्ती हिये पर कोई गया,
चुपचाप उसे धर जाने दिया।
पर हेतु रहा जलता मैं निशा भर,
मृत्यु का भी डर जाने दिया।
मुसकाता रहा बुझते बुझते;
हँसते-हँसते सर जाने दिया॥ ३॥

मैथिलीशरण गुप्त

[जन्म—वि० सं० १६४३]

गुप्त जी वर्तमान समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कवि हैं। आपका जन्म स्थान चिरगाँव झाँसी है। हिन्दी के आप ही सर्व प्रथम कवि हैं जिनकी रचना में खड़ी बोली का व्याकरण-सम्मत शुद्ध और परिमार्जित रूप दिखाई देता है। आपकी लिखी मौलिक और अनुवादित पुस्तकों की संख्या ३० के लगभग है। आपकी प्रारंभिक रचनाओं में "भारत भारती" और "जयद्रथ बध" नामक पुस्तकें बहुत प्रचलित तथा प्रसिद्ध हैं। अभी हाल में साकेत और यशोधरा ये दो प्रबध-काव्य लिख कर आपने हिंदी-साहित्य को अमूल्य भेंट दी है। ये ग्रंथ हिन्दी काव्य-जगत् में अद्वितीय हैं और इनके द्वारा गुप्त जी ने अपने को अमर बना लिया है। अभी हाल में इस पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओर से आपको मंगला प्रसाद-पारितोषिक भी मिल चुका है।

गुप्त जी की भाषा साफ, सरल और प्रवाह युक्त होती है। आपकी कल्पना हृदयग्राहिणी और कोमल होती है। हृदय के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति में आप अत्यंत निपुण हैं। राष्ट्र को जगाने में आपकी ओजपूर्ण लेखनी ने बहुत अधिक सहयोग दिया है।
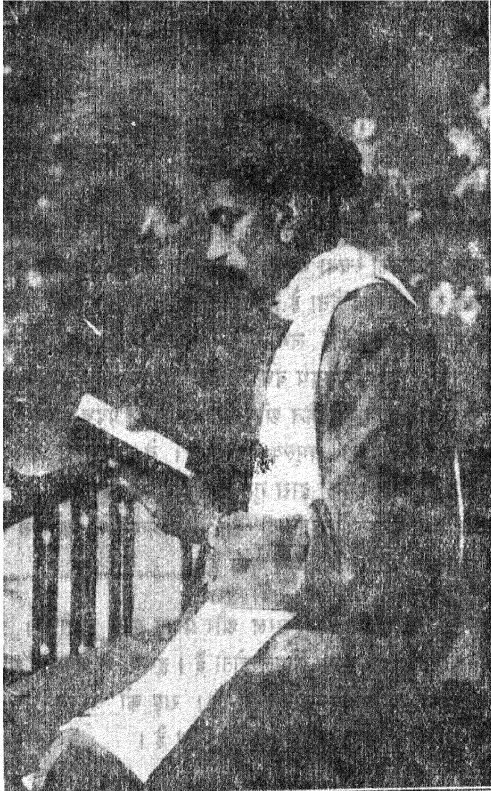
मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त

चित्रकूट

सिद्ध-शिलाओं के आधार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

तुझ पर ऊँचे-ऊँचे झाड़,
तने पत्रमय छत्र पहाड़,
क्या अपूर्व है तेरी आड़!
करते हैं बहु जीव विहार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

घिर कर तेरे चारों ओर,
करते हैं घन क्या ही घोर,
नाच-नाच गाते हैं मोर,
उठती है गहरी गुंजार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

नहलाता है नभ की वृष्टि,
अंग पोंछती आतप-सृष्टि,
करता है शशि शीतल दृष्टि,
देता है ऋतुपति शृङ्गार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

तू निर्झर का डाल दुकूल,
लेकर कन्द-मूल-फल-फूल,
स्वागतार्थ सब के अनुकूल,
खड़ा खोल दरियों के द्वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

सुदृढ़ धातुमय उपल शरीर,
अन्तस्तल में निर्मलनीर,
अचल अटल तू धीर-गंभीर,
समशीतोष्ण, शान्तिसुखसार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

विविध राग-रंजित, अभिराम
तू विराग-साधन, वन-धाम,
कामद होकर, आप अकाम,
नमस्कार तुमको शत वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

('साकेत से')

मानव-जीवन की सार्थकता

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी;
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी।
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये;
मरा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिये।
यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप ही सदा चरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती;
उसी उदार से धरा कृतार्थ भाव मानती।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती;
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती।
अखंड आत्म-भाव जो असीम विश्व में भरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

क्षुधार्त रंतिदेव ने दिया करस्थ थाल भी;
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि-जाल भी।
उसी नर-क्षितीश ने स्वमांस दान भी दिया;
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर-चर्म भी दिया।
अनित्य देह के लिये अनादि जीव क्या डरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

सहानुभूति चाहिए, महा विभूति है यही;
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही।
विरुद्ध-वाद बुद्ध का दया-प्रवाह में बहा;
विनीत लोक-वर्ग क्या न सामने झुका रहा ?
अहा ! वही उदार है, परोपकार जो करे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

रहो न भूल से कभी मदांध तुच्छ वित्त में;
सनाथ जान आपको करो न तर्क चित्त में।
अनाथ कौन है यहाँ त्रिलोकनाथ साथ हैं;
दयालु दीनबंधु के बड़े विसाल हाथ हैं।
अतीव भाग्यहीन हैं, अधीर भाव से भरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

अनन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्व बाहु जो बढ़ा रहे बड़े बड़े।
परस्परावलंब से उठो तथा बढ़ो सभी,
अभी अमर्त्य-अंक में अपंक हो चढ़ो सभी।
रहो न यों कि एक से न काम और का सरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

"मनुष्य-मात्र बंधु है" यही बड़ा विवेक है,
पुराण-पुरुष स्वभू पिता प्रसिद्ध एक है।

फलानुसार कर्म के अवश्य बाह्य भेद हैं;
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाण-भूत वेद हैं॥
अनर्थ है कि बंधु ही न बंधु की व्यथा हरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

महाराज यशवन्त सिंह के नाम

महरानी सिसोदिनी का पत्र

हे नाथ......नहीं, नाथ नहीं कहूँगी।
अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे।
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे?॥ १॥

यथार्थ ही क्या मुँह को छिपाये।
संग्राम से हो तुम भाग आये?
धिक्कार है, हा! अब क्या करूँ मैं,
रक्खी कहाँ मौत कि जो मरूँ मैं?॥ २॥

हा! पीठ बैरी-दल को दिखा के
त्यों हार माथे पर यों लिखा के;
आये दिखाने मुँह हो यहाँ क्या?
भला बनेगा तुम से यहाँ क्या?॥ ३॥

परन्तु मैं होकर वीर बाला।
जो लोक में है करती उजाला;
देखूँ तुम्हारा मुँह आज कैसे?
सहूँ कहो तो यह लाज कैसे?॥ ४॥

आये यहाँ क्या छिपने घरों में ?
या रानियों के घन घाँघरों में ?
परन्तु भागे तुम भीरु ज्योंही।
हुई कहो क्या हत वे न त्योंही ? ॥ ५ ॥

जो मृत्यु की थी इस भाँति भीति,
जो मेटनी थी निज रीति-नीति—
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था ?
क्यों ब्याह राना-कुल में किया था ॥ ६ ॥

जयाब्धिजा को न वरा गया जो,
न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो,—
तो क्या मरा भी न गया समक्ष ?
डूबा सभी का तुमसे स्वपक्ष ॥ ७ ॥

राठौर ! क्या लाज तुम्हें न आयी ?
जो कीर्ति दोनों कुल की मिटायी ?
क्या देह से है यश हाय ! खोटा ?
या मृत्यु से है अमरत्व छोटा ? ॥ ८ ॥

संग्राम में जो तुम काम आते ;
तो लोक में निश्चय नाम पाते।
मैं भी सती होकर धन्य होती।
न क्षत्रिया होकर आज रोती ॥ ९ ॥

न भाग्य में था यह किन्तु मेरे;
दुर्दैव ! हैं ये सब काम तेरे।
तू जो करे सो सब ठीक ही है;
मनुष्य-विश्वास अलीक ही है ॥१०॥

माँ मेदिनी ! तू फट मैं समाऊँ ;
कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊँ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती,
तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ? ॥११॥

नहीं, नहीं, मैं यदि भीरु-भार्या,
तो कौन होगी फिर और आर्या ?
हाँ, है तुम्हीने कुल-लाज खोयी;
परन्तु मेरे तुम हो न कोई ॥ १२ ॥

सिसोदियों के बन के जमाई,
है कीर्ति तुमने अच्छी कमाई !
आई तुम्हें लाज न नाम की भी;
रक्षा न होगी अब धाम की भी ॥ १३ ॥

सुना तुम्हें था वरवीर मैंने;
सौंपा तभी था स्व-शरीर मैंने।
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी,
हुई अभी है यह ज्ञात सारी ॥ १४ ॥

विशाल वक्षःस्थल, दीर्घ भाल,—
आजानु लम्बे युग-बाहु-जाल—
थे देखने ही भर को तुम्हारे,
ज्यों चित्र में अंकित अंग सारे ॥ १५ ॥

दैवात् कभी शत्रु कुदृष्टि लावें।
सोत्साह मेरे हरणार्थ आवें।
तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो ?
आश्चर्य क्या जो मुंह मोड़ भागो। ॥ १६ ॥

विश्वास क्या भीत पलातकों का।
स्व-कर्म वा धर्म विघातकों का?
कर्तव्य से जो च्युत हो चुके हों
क्या है जिसे वे न डुबा चुके हों॥ १७॥

जाओ यहाँ से तुम लौट जाओ।
तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ।
हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर
है गीदड़ों को इसमें न ठौर॥ १८॥

चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी,
मैंने किया है अपराध भारी।
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी;
कैसे कहूँ हा! न यथार्थ वाणी?॥ १९॥

मेरा तुम्हारा न मिलाप होगा,
हा! शान्त कैसे यह ताप होगा?
विश्वेश! लेवें सुध शीघ्र मेरी।
देवें मुझे मृत्यु, करें न देरी॥ २०॥

रामनरेश त्रिपाठी

[जन्म—वि० सं० १९४६]

खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवियों में त्रिपाठी जी को सम्माननीय स्थान प्राप्त है। आपकी कविताओं में कल्पना, चिन्तन और अनुभूति तीनों ही हैं परन्तु तीनों एक सीमित मात्रा में। आप कवि ही नहीं, बल्कि कहानीकार, नाटककार, अनुवादक और समालोचक भी हैं। छै भागों में हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह तैयार करके आपने हिन्दी के एक महत्वपूर्ण अंग की पूर्ति की है। हाल में तुलसीदास जी के सम्बन्ध में आपने तीन भागों में एक समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखा है।

त्याग और उत्सर्ग त्रिपाठी जी की रचनाओं के आदर्श होते हैं। खण्डकाव्य लिखने में भी आपको प्रचुर सफलता मिली है। इनकी कविता में प्रायः राष्ट्रीय भावों की प्रधानता रहती है और ये सुबोध, सरल और जोशीली हुआ करती हैं। त्रिपाठी जी का प्रकृति-वर्णन भी स्वाभाविक और सुन्दर होता है। आप कविता में बोलचाल के प्रचलित विदेशी शब्दों के प्रयोग को सर्वथा उचित मानते हैं। आपके 'पथिक' 'मिलन' 'स्वप्न' 'मानसी' आदि काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

रामनरेश त्रिपाठी

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥

तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥

बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥

दुख से रुला-रुलाकर तूने मुझे चिताया।
मैं मस्त हो रहा था तब हाय! अंजुमन में!

बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता।
जब तू लगा हुआ था पतितों के सगठन में॥

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में॥

तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के।
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरन में॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में॥

हरिचंद और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में॥

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फरहाद कोहकन में॥

जीसस की हाय में था करता विनोद तू ही।
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन में॥

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की दहन में॥

आखिर चमक पड़ा तू गाँधी की हड्डियों में।
मैं तो समझ रहा था सुहराब-पील-तन में॥

कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस कदर है।
हैरान होके भगवन आया हूँ मैं सरन में॥

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में॥

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में।
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में॥

हे दीनबन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू।
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में॥

कठिनाइयों, दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू, बस कष्ट के सहन में॥

दुख में न हार मानूँ, सुख म तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में॥

नवीन धारा

(द्वितीय स्रोत)

अंतर मम विकसित कर, अंतरतर हे !
निर्मल कर, उज्वल कर, सुन्दर कर हे !
जाग्रत कर, उद्यत कर, निर्भय कर हे !
मंगल कर, निरलस, निःसंशय कर हे !

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

माखनलाल चतुर्वेदी

[जन्म—वि० सं० १६४५]

चतुर्वेदी जी का जन्म खँड़वा (मध्यप्रदेश) में हुआ था। कविता में मन की सुकुमार वृत्तियों का सूक्ष्म संकेत आपकी प्रधान विशेषता है। आपकी कविता के भाव बहुत ऊँचे और गहरे होते हैं और उसमें उत्कृष्ट राष्ट्रीयता व्याप्त रहती है। उनकी कुछ अमर रचनाएँ जेल में लिखी

माखनलाल चतुर्वेदी

गई हैं, यही कारण है कि राष्ट्र की वेदना का सजीव चित्र उनमें हम पाते हैं। ऐसी भावपूर्ण मार्मिक राष्ट्रीय कविताएँ बहुत कम कवियों ने लिखी हैं। आपकी कविताएँ आपके, 'एक भारतीय आत्मा'— इस उपनाम से प्रकाशित होती हैं।

कविता की तरह गद्य पर भी आपका असाधारण अधिकार है। आपका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नामक नाटक बहुत प्रसिद्ध है। खँड़वा से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक पत्र 'कर्मवीर' का संचालन आप ही करते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ ;
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ ;
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ ;
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ;

मुझे तोड़ लेना बन-माली
उस पथ में देना तुम फेंक ॥
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने ।
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

भारतीय विद्यार्थी

समय जगाता है, हम सबको झटपट जग जाना ही होगा,
देख विश्व सिद्धान्त कार्य में निर्भय लग जाना ही होगा ।
दृढ़ करके मस्तिष्क मनस्वी बनकर वीर कहाना होगा,
पूर्णज्ञान-सर्वेश-चरण पर, जीवन-पुष्प चढ़ाना होगा ।
यह स्वार्थी संसार एक दिन बने हमीं से जब परमार्थी,
तब हम कहीं कहा सकते हैं, सच्चे भारतीय विद्यार्थी ॥ १ ॥

समय एक पल भी न हमें, अब भाई, व्यर्थ बिताना होगा,
शक्ति बढ़ा गौरव-गिरीश पर, चढ़कर शौर्य दिखाना होगा,
सम्पति का उपयोग हमें अनुकूल बुद्धि से करना होगा,
बढ़ते हुए मार्ग में हमको नहीं कभी भी डरना होगा ।
इस कर्त्तव्य-भूमि पर तृण-सम प्रण पर प्राण गँवाने होंगे,
वीरों ही के पद-चिन्हों पर, अपने पैर जमाने होंगे ॥ २ ॥

देख-देख भारत को उनके है बहती आँसू की धारा,
मानो यह बन गया उन्हीं से, सृष्टि-मेखला-सागर खारा।
पर अब अपनी ओर देख मन उनका धीरज धर पाया है,
यह संसार सदा नवयुवकों का ही दम भरता आया है।
'हम पर है सब भार'—बन्धु! यह बात ध्यान से टले न देखो,
विश्वासी वे आर्य स्वर्ग में कर कमलों को मलें न देखो॥ ३॥
ब्रह्मचर्य-व्रत भीष्म पितामह को आगे रख धार रहे हों,
वीर-तेज में अर्जुन बनकर, दुर्जन-दल को मार रहे हों।
सादेपन में हो सुतीक्ष्ण पागल मे प्रण को पाल रहे हों,
न्याय नीति में विदुर सरीखे तीखे वाक्य निकाल रहे हों।
कर्म-क्षेत्र हमको मिल जावे, हो बस इसी बात के प्रार्थी,
ऋषियों की सन्तान वही हैं, अद्भुत भारतीय विद्यार्थी॥ ४॥
सीख रहे हों पश्चिम से जो धर्मस्थल में मरने के गुण,
नैतिक छान-बीन की दृढ़ता मर्मस्थल में धरने के गुण।
हृदय, हाथ, मस्तिष्क मिलाकर, कर्मस्थल जय करने के गुण,
अपनी कार्य-शक्ति से दुनिया भर के मन वश करने के गुण।
वे ही हैं माता के रक्षक, वे ही है सच्चे शिक्षार्थी,
वे ही हैं लक्ष्यों के लक्षक, प्यारे भारतीय विद्यार्थी॥ ५॥
भारतीय शालाओं के गुण विश्वविदित करने वाले हों,
भारतीय शिक्षा का सूरज शीघ्र उदित करने वाले हो।
भारतीय सागर को बढ़ा कर नित्य मुदित करने वाले हों,
भारतीय-निंदक-समूह अविलम्ब क्षुभित करने वाले हों।
परिवर्तन कर देने वाले, देवि भारतीय के आज्ञार्थी,
निस्सन्देह कहा सकते हैं ऐसे भारतीय विद्यार्थी॥ ६॥
आज जगत की राज-पुस्तिका में भारत का नाम नहीं है,
वर्तमान आविष्कारों में हाय! हमारा काम नहीं है।
रोता है सब देश, देश में दाने का भी दाम नहीं है,

कहते हैं सब लोग यहाँ के लोगों में कुछ राम नहीं है !
नाम नहीं है ! काम नहीं है ! दाम नहीं है ! राम नहीं है !
तो बस इन्हें प्राप्त करने तक हमको भी आराम नहीं है ॥ ७ ॥
घर घर में जगदीश चन्द्र बसु होना काम हमारा ही है,
बन कर कृषक, गर्व से कृषि को बोना काम हमारा ही है ।
शिल्प बढ़ा कर ताज महल फिर रचकर के दिखलाने होंगे,
व्यापारी बन देश-देश में अपने पोत घुमाने होंगे ।
रेल, तार, आकाश-यान ये हम क्या कभी बना न सकेंगे ?
शुद्ध स्वदेशी पीताम्बर क्या माधव को पहिना न सकेंगे ॥ ८ ॥
पहिले बाल भरत हो सिंहों के भी दाँत दबाना होगा,
पुनः भरत हो बन्धु-प्रेम पर अपनी भेंट चढ़ाना होगा ।
तभी भरत हो, देह-मान तज, विश्वरूप बन जाना होगा,
फिर भारत के पुत्र भरत कहलाकर गौरव पाना होगा ।
जब तक नहीं भरत-कुल-दूषण भूषण हो, होगे प्रेमार्थी,
तब तक कैसे कहा सकेंगे—'विजयी भारतीय विद्यार्थी' ॥ ९ ॥
भारत माता अपने इन पुत्रों को पहिले का सा बल दे;
हे भारती ! दया कर क्षण में सबकी दुर्बलता तू दल दे ।
भारत की सच्ची आत्माएँ आगे बढ़ें, उन्हें क्यों भय हो,
भारतवासी मिलकर गावें—'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो' ।
यह सुन कर जगती-तल कह दे—"भारतवर्ष तुम्हारी जय हो"
प्रतिध्वनि में जगदीश्वर कह दें-"भारतवर्ष तुम्हारी जय हो" ॥१०॥
जीवन रण में वीर ! पधारो मार्ग तुम्हारा मंगल-मय हो,
गिरि पर चढ़ना, गिरकर बढ़ना, तुमसे सब विघ्नों को भय हो ।
नेम निभाओ, प्रेम दृढ़ाओ, शीश चढ़ा भारत उद्धारो,
देवों से भी कहला लो यह—"विजयी भारतवर्ष पधारो ।"
भारत के सौभाग्य-विधाता, भारत माता के आज्ञार्थी,
भारत-विजय-क्षेत्र में जाओ, प्यारे भारतीय विद्यार्थी ॥११॥

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म वि० सं० १६४५] [मृत्यु वि० सं० १६६४

'प्रसाद' जी का जन्म काशी में हुआ था। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आपका अध्ययन भी विशाल था। आपने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, सभी कुछ लिखा और लिखा सफलता के साथ। 'प्रसाद' जी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की नवीन प्रगति के जन्मदाता माने जाते हैं। आपकी भाषा क्लिष्ट किन्तु मधुर, और भाव गहन गम्भीर होते हुए भी कोमल हैं। कहीं कहीं आपकी कल्पना आसानी से समझ में नहीं आती, किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता।

'भारतेन्दु के बाद हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककार आप ही माने जाते हैं। आपकी मृत्यु के बाद आपके 'कामायनी' नामक महाकाव्य पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से आपके पुत्र को मंगला-प्रसाद-पारितोषिक दिया गया है।

जयशंकर 'प्रसाद'

भारत-महिमा

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥ १॥

विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, उठा सब मधुर साम संगीत॥
बचाकर बीज-रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत॥ २॥

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता-विकास।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह॥ ३॥

धर्म का ले-लेकर जो नाम हुआ करती वलि कर दी बन्द।
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट, दया दिखलाते घर-घर घूम॥ ४॥

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं॥ ५॥

जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर॥
चरित के पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न॥ ६॥

हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान॥
जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥ ७॥

राय कृष्णदास

[जन्म—वि० सं० १९४८]

राय कृष्णदास जी का निवास-स्थान काशी है। आपके पिता राय प्रह्लाद दास जी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और काव्य-प्रेमी थे। उन्होंने अपने इच्छानुसार घर पर ही आपकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। पीछे चलकर स्व० द्विवेदी जी और मैथिलीशरण गुप्त से आपको कविता की प्रेरणा मिली। आप कवि ही नहीं वरन् उच्चकोटि के गद्य लेखक भी हैं। गद्य-काव्य लिखने में तो आप अद्वितीय हैं। आप सुन्दर कहानियाँ भी लिखते हैं। खड़ी बोली के अतिरिक्त आप कभी-कभी ब्रजभाषा में भी कविताएँ लिखते हैं। गद्य और पद्य दोनों में भावात्मक शैली पर आपका आधिपत्य है।

'भावुक' और 'ब्रजरज' आपके ये दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास

उद्‌बोधन

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?
तू पिंजर-बद्ध चला होने, बनने अपना ही आप काल !
यह है कञ्चन का बना हुआ
तू इससे मोहित-मना हुआ
कनकाब्ज-प्रसवि मानस भी है, उसको विस्मृत मत कर मराल।
यदि तू इसमें बँध गया कहीं
तो दुःखों का है अन्त नहीं
मत पड़ इस मृग-मरीचिका में, हाँ चेत, तोड़ दे जटिल जाल !
उन कमलों पर हो मोहित तू
ले उनकी सुरभि अपरिमित तू
उनके मरन्द-मधु से छक के अपने कुल का व्रत नित्य पाल !

वसंतोत्सव

कोयल करती आनन्द-गान, आया रसाल सज सुभग मौर
खिल उठीं देख कर सुमन-डाल
रचता मधूक है, विजय-माल
सज गई प्रकृति की सिंह-पौर
कोयल करती आनन्द-गान, आया रसाल सज सुभग मौर !
अधर-प्रवाल को चूम-चूम
प्रेमामृत पीकर झूम-झूम
बन गया और का पवन और
कोयल करती आनन्द-गान आया रसाल सज सुभग मौर
पाकर उसका सौरभ अनंत
ऋतुपति होता है वर वसंत
उत्सव होता है ठौर-ठौर
कोयल करती आनन्द-गान, आया रसाल सज सुभग मौर

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

[जन्म—सं० १९५४]

'नवीन' जी का जन्म शाजापुर (ग्वालियर) में हुआ था। हिन्दी कविता की नवीन धारा में इनका एक विशिष्ट स्थान है। इनकी एक खास शैली है। एक वाक्य में कहा जा सकता है—'नवीन' जी क्रान्ति के गायक हैं। निर्बन्ध स्वतंत्रता की भावना उनकी वाणी में गूँजती

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

रहती है। नवीन युग की भाव-धाराओं का—राष्ट्रीय जीवन की असफलताओं, उसके संघर्ष और क्रन्दन का—प्रभाव अगर किसी कवि पर पूर्ण रूप से पड़ा है तो वह 'नवीन' जी की कविता में ही लक्षित होता है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये;
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छाये;
बरसे आग, जलद जल जायें भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप-पुण्य सदसद् भावों की धूल उड़ उठे दायें-बायें
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूट-टूट गिर जायें;
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।

माता की छाती का अमृत-मय पय काल-कूल हो जाये,
आँखों का पानी सूखे वे शोणित की घूँटें हो जायें,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये;
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँड़राये;
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूट-टूट गिर जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति-दण्ड टूटे,—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये;
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश! नाश! हाँ महानाश की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल पुथल मच जाये।

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी है,
टूटी हैं मिजराबें युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है;
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त है—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से।

कण-कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है, कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन-ज्येति लुप्त है—आहा ! गुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही है प्रतिपल में—इन नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तर-तर से।

"दिल को मसल-मसल मेंहदी रचता आया हूँ, मैं यह देखो,
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक ताण्डव को पेखो !
विश्व-मूर्ति ! हट जाओ—यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ, जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के पोषक सूत्र परख आया हूँ।
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो—मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से।

सुमित्रानन्दन पन्त

[जन्म—वि० सं० १६५८]

पन्त जी अल्मोड़े के निवासी हैं। बचपन से प्रकृति की गोद में आपका लालन-पालन होने के कारण आपकी कविता में सौन्दर्य, मधुरता और विराट अनुभूति की झलक मिलती है। पंत जी नवीन छायावादी कविता के आचार्य माने जाते हैं। इनकी भाषा अत्यन्त कोमल, मधुर, तथा संगीत-पूर्ण होती है और उसमें संस्कृत शब्दों की अधिकता रहती है। आपकी कल्पना सुकुमार और वर्णन सजीव होता है। आपकी कविताओं के तीन चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'पल्लव' तथा 'गुञ्जन' विशेष उल्लेखनीय हैं। अभी हाल में 'युगान्त' नामक आपका एक और संग्रह प्रकाशित हुआ है। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता वहीं से ली गई है।
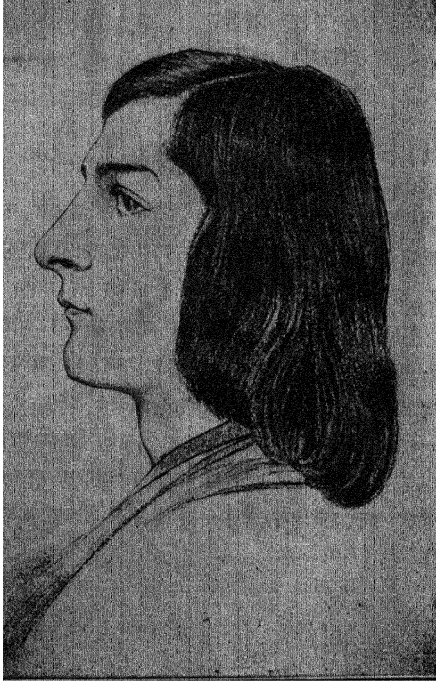
सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पन्त

गीत

मेरा प्रतिपल सुंदर हो,
प्रतिदिन सुंदर, सुखकर हो,

यह पल-पल का लघु जीवन

सुंदर, सुखकर, शुचितर हो !
हों बूँदें अस्थिर, लघुतर,
सागर में बूँदें सागर;

यह एक बूँद जीवन का

मोती-सा सरस, सुघर हो !

मधु के ही कुसुम मनोहर
कुसुमों की ही मधु प्रियतर,

यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित, मधुमय हो !
मेरा प्रतिपल निर्भर हो,
निःसंशय, मंगलमय हो,
यह नव-नव पल का जीवन
प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो !

बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थि-हीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर-नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन;
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस तुम्हीं हो रक्त-अस्थि,
निर्मित जिससे नवयुग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर-साधन !
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन
बीनेगा सत्य अहिंसा के
तानेबानों से मानवपन !

सुख-भोग खोजने आते सब,
आए तुम करने सत्य खोज
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना अहिंसा, नम्र-ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

पशुबल की कारा से जग को,
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति
विद्वेष घृणा से लड़ने को,
सिखलाई दुर्जय प्रेम-युक्ति;
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचारपरिणीत उक्ति
विश्वानुरक्त हे अनासक्त!
सर्वस्व त्याग को बना भुक्ति!

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का,
भर तुमने आत्मा का निनाद।
रँग रँग खद्दर के सूत्रों में
नव जीवन-आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी कला के सूत्रधार!
हर लिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद!

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव - जीवन का परित्राण;
बहु छाया-बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त-मांस प्रतिमाओं में
फूँकने सत्य के अमर प्राण!

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

[जन्म वि० —सं० १९५६]

वियोगी जी का जन्म गया में हुआ था। हिन्दी के नवीन-युग के कवियों में 'वियोगी' जी का स्थान ऊँचा है। ये श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपना काव्य गुरु मानते हैं। इनकी कविताओं पर रवि बाबू का प्रभाव स्पष्ट है। उनमें अवसाद, निराशा और वेदना का अधिक पुट है। पर यहाँ जो कविता दी गई है उसमें ओज और उत्साह का ही भाव है। आप गद्य भी सुन्दर लिखते हैं। आपकी कहानियाँ बहुत मनोरंजक और कलात्मक होती हैं।

'वीणा', 'एकतारा', 'निर्माल्य', आदि आपके कविता-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।
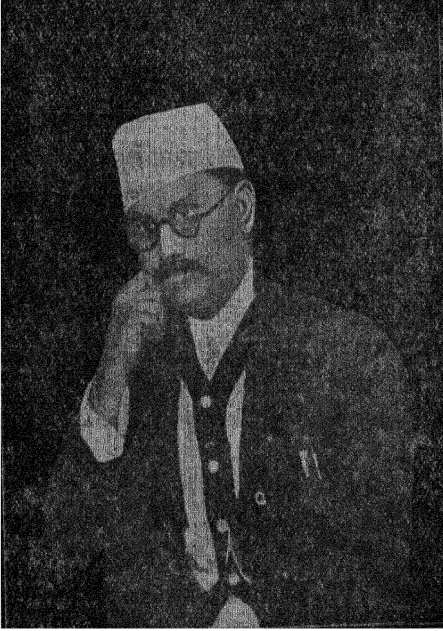
मोहनलाल महतो 'वियोगी'

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

कवि

(१)

क्लीवों के शरीर में भी खौल उठता है खून,
त्योरियाँ बदलती हैं जोश चढ़ जाता है।
लेकर हथेली पर जान बढ़ता है वीर,
हारी हुई बाजी को तुरंत पलटाता है।
होने लगता है प्रलयंकर-सा नग्न नृत्य,
नाश का कलेजा भी कली-सा थहराता है।
तीनों लोक चूमने अँगूठे लगते हैं तेरे,
कवि ! तू सगर्व जब लेखनी उठाता है॥

(२)

पढ़कर तेरी एक ओज भरी कविता को,
कर्मवीर चारों ओर आग लगा देते हैं।
जीवन की जीर्ण-शीर्ण नैया को अभय होके,
अन्तहीन पारावार में वे सदा खेते हैं।
तेरी ही दया से धन-बुद्धी - गुण-कर्म-हीन,
कितने अधीन-दीन आजकल चेते हैं।
कारण यही है, है गुलाम तेरा सारा विश्व,
बड़े-बड़े तेरी लेखनी को चूम लेते हैं॥

(३)

कवि ! तुम गौरव स्वदेश के, स्वभाषा के हो,
भावुकों के जीवन हो, यौवन हो, तन हो।
सखा दलितों के, पतितों के, दीन-दुर्बलों के,
मूकों के मनोरथ हो, बोलती हो, जन हो।
वीरों के भयंकर परिश्रम हो, साहस हो,
प्रेमियों के प्रेम हो, महानता हो, मन हो।
कविता के प्यारे हो स्वयम्भू हो स्वतंत्र भी हो,
जन के दुलारे और भारती के धन हो॥

सुभद्राकुमारी चौहान

[जन्म—वि० सं० १९६१]

आपका जन्म प्रयाग में हुआ था। आपके पति ठाकुर लक्ष्मण सिंह जबलपुर में वकालत करते हैं। हिन्दी कविता की नवीन धारा की कवियित्रियों में श्रीमती महादेवी वर्मा और आपका सर्वोच्च स्थान है, लेकिन दोनों के क्षेत्र दो हैं। यदि श्रीमती वर्मा की कविता में अनुभूति की जटिलता, वेदना की विह्वलता और करुणा की व्याकुलता है तो श्रीमती चौहान की कविताओं में मातृत्व, ममता, आशा और उत्साह की प्रफुल्लता और हृद्गत भावों की स्वाभाविकता है। इनकी कविताओं में शिथिल प्राणों में उत्साह और उमंग की धारा प्रवाहित करने की अपूर्व क्षमता है।

आपकी भाषा आपके भावों की स्वाभाविकता के अनुसार ही अकृत्रिम और आडम्बर शून्य होती है। सीधे-सादे शब्दों में दिल पर असर करने वाले भावों को अंकित करने में आपको अपूर्व सफलता मिली है। 'मुकुल' तथा 'त्रिधारा' नामक आपके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से 'मुकुल' पर ५००) रु० का सेकसरिया-पारितोषिक भी मिल चुका है।

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी;
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥ १ ॥

कानपुर के नाना की मुँहबोली बहिन छबीली थी'
लक्ष्मीबाई नाम पिता की वह सन्तान अकेली थी।
नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी, उसकी यही सहेली थी।
वीर शिवाजी की गथाएँ उसको याद जबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ २ ॥

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता का अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार।

नकली युद्ध-व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवाड़।
महाराष्ट्र कुल देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ ३॥

हुई वीरता की, वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में।
राजमहल मे बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि सी वह आई झाँसी में।
चित्रा ने अर्जुन को पाया शिव से मिली भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ ४॥

उदित हुआ सौभाग्य मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु काल गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई।
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाई,
रानी विधवा हुई हाय विधि को भी दया नहीं आई।
निस्सन्तान मरे राजा जी रानी शोक समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ ५॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया।
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर बृटिश राज्य झाँसी आया।
अश्रु-पूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई विरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ ६॥

अनुनय-विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया।
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया।
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥ ७ ॥

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों बात,
कैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात।
उदैपुर, तंजोर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात,
जबकि सिंध पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्रनिपात।
बंगाले मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥ ८ ॥

रानी रोई रनिवासों में, बेगम गम से थीं बेजार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाजार।
सरे आम नीलाम छापते थे अँग्रेजों के अखबार,
नागपूर के जेवर ले लो लखनऊ के लो नौलख-हार।
यों परदे की इज्जत परदेशी के हाथ बिकानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥ ९ ॥

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
बीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान।
नाना धुन्धूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान।

हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १० ॥

महलों ने दी आग झोंपड़ों ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी।
झाँसी चेती दिल्ली चेती लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरठ कानपूर पटना ने भारी धूम मचाई थी।
जबलपूर कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ ११ ॥

इस स्वतन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना धुन्धूपंत ताँतियाँ चतुर अजीमुल्ला सरनाम।
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम।
लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १२ ॥

इनकी गाथा छोड़ चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में।
लेफ़्टिनेन्ट वौकर आ पहुँचा आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली हुआ द्वन्द्व असमानों में।
जख्मी होकर वौकर भागा उसे अजब हैरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १३ ॥

रानी बढ़ी कालपी आई कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार।
यमुना तट पर अँग्रेजों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार।
अँग्रेजों के मित्र सिंधिया ने छोड़ी रजधानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १४॥

विजय मिली, पर अँग्रेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जनरल स्मिथ संमुख था उसने मुँह की खाई थी।
काशी और मंदरा सखियाँ रानी के संग आईं थीं,
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी।
पर पीछे ह्यूरोज आ गया हाय! घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १५॥

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था वह संकट विषम अपार।
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार।
घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥ १६॥

रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सँवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी।
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता नारी थी।

दिखा गई, पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥ १७ ॥

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी।
होवें चुप इतिहास रचो सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी तू खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥ १८ ॥

मेरा जीवन

(१)

मैंने हसना सीखा है,
मैं नहीं जानती रोना।
बरसा करता पल-पल पर
मेरे जीवन में सोना

(२)

मैं अब तक जान न पाई
कैसी होती है पीड़ा ?
हँस-हँस जीवन में कैसे
करती है चिन्ता क्रीड़ा ?

(३)

जग है असार सुनती हूँ
मुझको सुख-सार दिखाता।
मेरी आँखों के आगे
सुख का सागर लहराता।

(४)

कहते हैं होती जाती
खाली जीवन की प्याली।
पर मैं उसमें पाती हूँ
प्रतिपल मदिरा मतवाली।

(५)

उत्साह, उमंग निरंतर
रहते मेरे जीवन में।
उल्लास विजय था हँसता
मेरे मतवाले मन में।

(६)

आशा आलोकित करती
मेरे जीवन के प्रतिक्षण।
हैं स्वर्ण-सूत्र से बलयित
मेरी असफलता के धन।

(७)

सुख भरे सुनहले बादल,
रहते हैं मुझको घेरे
विश्वास, प्रेम साहस हैं
जीवन के साथी मेरे।

महादेवी वर्मा

[जन्म—वि० सं० १९६४]

श्रीमती वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया और आजकल आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसपल हैं। आप अत्यन्त सहृदय, मृदुभाषिणी और अध्ययनशील महिला हैं। आपके दार्शनिक विचार अपने ढंग के होते हैं और आपकी कविता में भी वे नगीने की तरह जड़े रहते हैं। वर्तमान कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी कल्पना तथा अनुभूति हृदय को स्पर्श करने वाली होती है। वेदना की अभिव्यक्ति से आपकी सभी रचनाएँ ओत-प्रोत रहती हैं। आपके गीतों के संग्रह 'नीरजा' पर आपको ५००) रुपये का सेकसरिया-पुरस्कार मिल चुका है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव,
में अहो सूखे सुमन।
हास्य करता था, खिलाती,
अङ्क में तुझको पवन ॥ १ ॥

खिल गया जब पूर्ण तू,
मंजुल सुकोमल पुष्प बन।
लुब्ध मधु के हेतु मँडराने
लगे, उड़ने भ्रमर ॥ २ ॥

स्निग्ध किरणें चन्द्र की,
तुमको हँसाती थीं सदा।
ओस मुक्ता जाल से,
शृंगारती थी सर्वथा ॥ ३ ॥

वायु पंखा झल रही
निद्रा-विवश करती तुझे।
यत्न माली का रहा
आनन्द से भरता तुझे ॥ ४ ॥

कर रहा अठखेलियाँ,
इतरा सदा उद्यान में।
अन्त का यह दृश्य आया,
था कभी क्या ध्यान में॥ ५॥

सो रहा अब तू धरा पर,
शुष्क बिखराया हुआ।
गन्ध कोमलता नहीं,
मुख मंजु मुरझाया हुआ॥ ६॥

आज तुमको देख कर,
चाहक भ्रमर आता नहीं।
वृक्ष भी खोकर तुझे
हा, अश्रु बरसाता नहीं॥ ७॥

जिस पवन ने अंक में,
ले प्यार था तुझको किया।
तीव्र झोके से सुला,
उसने तुझे भू पर दिया॥ ८॥

कर दिया मधु और सौरभ,
दान सारा एक दिन।
किन्तु रोता कौन है,
तेरे लिए दानी सुमन॥ ९॥

मत व्यथित हो पुष्प, किसको
सुख दिया संसार ने?
स्वार्थमय सबको बनाया,
है यहाँ करतार ने॥ १०॥

विश्व में है पुष्प! तू,
सबके हृदय भाता रहा।
दान कर सर्वस्व फिर भी,
हाय, हरषाता रहा॥ ११॥

जब न तेरी ही दशा पर,
दुख हुआ संसार को।
कौन रोयेगा सुमन,
हमसे मनुज निस्सार को॥ १२॥

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

'द्विज' जी इस समय छपरे के राजेन्द्र कालेज में हिन्दी के अध्यापक हैं। आपकी कविताएँ अनुभूति पूर्ण होती हैं। जीवन के दुःखों और अभावों से घबड़ा कर आह भरना आपको स्वीकार नहीं। आप तो अभावों की पूजा करते हैं। कविता के ऐसे भावों पर रवि बाबू की छाप स्पष्ट है। आप भाव-प्रवण गायक भी हैं। आपके मुँह से आपकी कविताएँ सुन कर लोग तन्मय हो जाया करते हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह 'अनुभूति' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। कविता के अतिरिक्त आप कहानियाँ भी लिखते हैं और वे बहुत सुन्दर होती हैं।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

अनुनय

(१)

माँ ! उर में वह आग लगा दे,

जिससे मलिन वासनाएँ जल
पल में छार-छार हो जायें;
जीवन के अरमान अपावन
जिसकी लपटों में सो जायें;
खो जायें निधियाँ वे जिनको
पाप मोल लेता इस जग में ;
स्वार्थ कलुष रह जाय न मेरे
नयन-हीन मन के नव मग में ;
जो निज रोष-भरी ज्वाला से

भूतल का मल सकल भगा दे;
माँ ! उर में वह आग लगा दे।

शीतलता शोणित की हर ले
रग-रग में नूतन बल भर दे ;
धधक एक जिसकी इस गीले
यौवन को ज्वाला-मय कर दे ;
डर देकर अब दूर दिखा निज
प्रलय लालिमा की छवि छन में,

उमड़ पड़े आह्लाद मरण का
जिसके आलिङ्गन से मन में;
जिसकी चिनगारी को चूमूँ—

जो मुझ में नव ज्योति जगा दे,
माँ ! उर में वह आग लगा दे।

(२)

नस-नस में नूतन रस भर दे;

माँ ! तेरे पावन चरणों पर
हुलसित हो अपना सरबस धर,
विपुल वेदना के वैभव से
अन्तर की भूखी झोली भर,

एक बार अपने को तुझ में
लीन आज तेरा सुत कर दे !

अमलिन हो धुल कर मम तन-मन
तेरी ही करुणा के जल से;
पौरुष जाग उठे यौवन में
तेरे दिये हुए नव बल से;

पुलकित कर उर को आशा से,
माँ ! सुत को साहस-सहचर दे।

नवीन धारा

(तृतीय स्रोत)

उठा अमर-तूलिका, स्वर्ग का भू पर चित्र बनाऊँगी।
अमा-पूर्ण जग के आँगन में आज चन्द्रिका लाऊँगी॥

—दिनकर

प्रो० मनोरंजन प्रसाद सिंह

आपकी जन्मभूमि शाहाबाद जिले का डुमराँव नामक स्थान है। आजकल आप काशी के हिन्दू विश्व-विद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं। भावों की सच्चाई तथा सादगी एवं भाषा की सरलता तथा प्रवाह आपकी कविता के उत्कृष्ट गुण हैं। आपके सीधे-सादे भाव सुनते ही लोगों के दिल पर उतर जाते हैं। आप जब-तब भोजपुरी में भी रचनाएँ
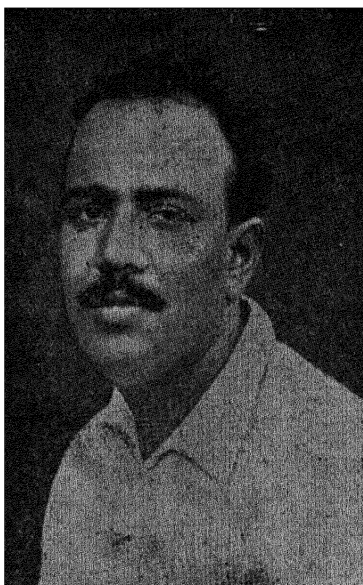
प्रो० मनोरंजन प्रसाद सिंह

करते हैं और जनता में उनका प्रचार भी होता है। किसी दूसरे कवि की पंक्तियों में थोड़ा सा परिवर्तन करके उनमें परिहास भर देने की पद्धति को अंग्रेजी में 'पैरोडी' (विडम्बना-काव्य) कहते हैं। इस कला में आप बड़े निपुण हैं। आपकी 'फैशन-भारती' इसका प्रमाण है। हाल में आपकी कविताओं का एक संग्रह 'गुनगुन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

प्रो० मनोरंजन प्रसाद सिंह

इस वैशाली के आँगन में

१

किस अतीत गौरव की गाथा कवि, तू गाने आया है ?
कह, किस युग की करुण कहानी, हमें सुनाने आया है ?
किन बीती घटनाओं की फिर याद दिलाने आया है ?
क्यों सदियों की सुप्त वेदना पुनः जगाने आया है ?
रहने दे वे मूक व्यथाएँ सारी अपने ही मन में।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में ॥

२

सुना, किसी दिन यहीं लिच्छवी शासन था वैभवशाली।
सुना, किसी दिन थी उन्नति के उच्च शिखर पर वैशाली ॥
जब जग में थी राजतन्त्र की घटा घिरी काली-काली,
तब भी इस प्राचीन भूमि में गणतन्त्रों की थी लाली ॥
लेकिन है क्या लाभ भला अब उस अतीत के चिन्तन में ?
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में।

३

सुना, यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार।
त्याग दिये थे जिसने जग के भोग-विलास, साज-शृंगार ॥
जिसके निर्मल जैनधर्म का देश-देश में हुआ प्रचार।
तीर्थंकर जिस महावीर का यश अब भी गाता संसार।
है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण में।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में ॥

४

सुना किसी दिन 'बुद्धदेव' ने यहीं किया था आप निवास ।
महारण्य की पुण्य कुटी में था उनका सुन्दर आवास ॥
यहीं सुन्दरी आम्रदारिका तजकर सारे भोग विलास ।
आई थी श्रद्धा-समेत उपदेश-ग्रहण को उनके पास ॥
विकसी थी वह मृदुल मंजरी यहीं आम्र के कानन में ।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में ॥

५

है उस प्रियदर्शी अशोक का स्तम्भ आज भी गड़ा हुआ ।
उस अतीत गौरव का है वह चिह्न आज भी खड़ा हुआ ॥
लुप्त हो गये सभी जिन्हें पा करके था यह बड़ा हुआ ।
राजनगर राजा विशाल का आज शून्य है पड़ा हुआ ॥
ध्वनि उसकी आती है अब भी गंडक के कल क्रन्दन में ।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में ॥

फैशन-भारती

[१]

वाचक, प्रथम सर्वत्र ही तुम 'जयति जय फैशन' कहो
फिर सभ्य पुरुषों की सुखद शिक्षा-तरंगों में बहो
गर लात या जूते पड़ें तो धैर्य-पूर्वक सब सहो
होगी सफलता क्यों नहीं, हरदम खुशामद में रहो

[२]

निज देश का कल्याण करना यह महा दुष्कर्म है
लाभार्थ अपने वेष से भी द्वेष करना धर्म है
इस तत्व पर ही आज दिन प्रचलित यहाँ फैशन हुआ
जो वृद्ध भारतवर्ष में नव ज्योति का कारण हुआ

[३]

निर्बोध गाँधी आज जो नाहक नहीं हठ ठानते
पांडित्य-पूर्वक आज-कल की सभ्यता को मानते
तो डूबता भारत नहीं यों दुःखपारावार में
ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में

[४]

इस देश को हे दीनबन्धो, आप अब अपनाइये
भगवान भारतवर्ष को अब सभ्य भूमि बनाइये
अब वह घड़ी आवे प्रभो, सबको घड़ी हो, 'चेन' हो
पाकिट में पेन 'फौंटेन' हो कर में लचीला 'केन' हो

[५]

गौरांगिनी भाषा रहे, इंगलैंड के स्कालर रहें
हो सूट में शोभित बदन, टाई रहे, कालर रहे
होवें पद-द्वय बूट-धर; चश्मा-सुशोभित नैन हों
भगवान, भारतवर्ष के सब लोग 'जेंटिल-मैन' हों

[६]

है बस यही विनती प्रभो, दें प्राण फैशन के लिए
मर जायँ हाकिम के लिए, हर्गिज न 'नेशन' के लिए
गौरांग प्रभुओं के चरण की नित्य हम सेवा करें
विद्वेष फैला देश में हम पाकटें अपनी भरें

[७]

अन्तिम विनय है नाथ, मेरे गीत का सुप्रचार हो
इस देश में चहुँ ओर फैशन का विमल संचार हो
'हो भद्रभावोद्भाविनी यह भारती हे भगवते
सीतापते, सीतापते, गीतामने गीतामते*

*[यह फैशन-भारती श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' के कतिपय पद्यों की विडम्बना-काव्य (पैरोडी) के रूप में लिखी गयी है। एक बार लेखक से गुप्त जी ने भी जब इस रचना को सुना था, तो 'हँसते-हँसते उनके पेट में दर्द होने लगा था'।]

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद

आप छपरे के निवासी हैं। आजकल आप पटना कालेज में हिन्दी के अध्यापक हैं। आप हिन्दी और संस्कृत साहित्य के मननशील विद्वान् और उच्च कोटि के काव्य-मर्मज्ञ हैं। आपका समय इतना कार्य-संकुल रहता है कि निश्चिन्त होकर काव्य-रचना करने का आपको अवकाश ही नहीं मिलता। फिर भी, उमंग में आने पर आपकी प्रतिभा के प्रसाद से हिन्दी के पाठकों को यदा-कदा सुललित कविताएँ मिल जाती हैं। आपकी कविताओं में चिंतन, अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सामंजस्य और आपकी भाषा में प्रवाह और प्रसाद गुण का सफल समन्वय रहता है। 'मोती के दाने' नामक आपकी एक कविता-पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद

तुलसीदास

(१)

रस-हीन गिरा थी सिर धुनती*, उसका उचटा मन मना गया।
सामान्य रसों से परं दिव्य रस का रहस्य कुछ जना गया॥
हरि-स्नेह-सुधा से सींच-सींच कविता-मंजरि पनपना गया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

(२)

वह राम-भक्ति का भूखा था, पर अघा गया श्रीमन्तों को।
पय पुण्य प्रेम का पिला गया नर-नारी, सन्त असन्तों को॥
भर गया सभी आतुर उर में कुछ भाव गजब का नया-नया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

(३)

गुणहीन एक† तो सागर में कर मग्न अपर‡ था चला गया।
वह शक्ति लोक-संग्रह की आकर एक ज्योति सी जला गया॥
म्रियमाण जाति के जीवन में फिर नाच उठी विभु की विजया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

---

* कीन्हें प्राकृतजन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

† कबीर का निर्गुन।

‡ सूरदास।

(४)

हरि-मूरति के भावना भेद से नर से नर लड़ जाते थे।
कलुषित कलहों के बीच नीच क्या, पण्डित भी पड़ जाते थे॥
कर 'सियाराममय सब जग' को वह हर विरोध कर गया दया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

(५)

था भक्त, सुधारक था, कवि था, ज्ञानी था, परहितकारी था।
माता हिन्दी के मन्दिर का वह एक अनन्य पुजारी था।
मृदु "मानस" का सर्वत्र सुलभ अक्षय प्रवाह वह बहा गया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

(६)

सब कहते हैं—वाल्मीकि स्वयं तुलसी बन कर ये आया था।*
हम क्या जानें,—वह तो अपूर्व कुछ अमर विभव ले आया था॥
वह सुना गया संदेश अमर,—क्या जानें, वह नर था सुर या।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया॥

(७)

सब मग्न अमीर-गरीब हुए उसके सुस्निग्ध निनादों में।
बस एक गान वह गूँज उठा कुटियों में, नृप-प्रासादों में॥
वाणी की रानी की वीणा वह निज स्वर से गुनगुना गया।
कागज के पन्नों को तुलसी तुलसी-दल जैसा बना गया।

* "कलि कुटिल जीवनिस्तारहित बाल्मीकि तुलसी भयो।"
—श्रीनाभादास जी

हरिवंश राय 'बच्चन'

'बच्चन' जी ने इधर सात-आठ वर्षों से ही साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया है, फिर भी अपनी प्रतिभा तथा मौलिक भावनाओं के बल पर वर्तमान हिन्दी काव्य-जगत् में आपने अपना विशेष स्थान बना लिया है। आपकी भाषा में मनोहर स्वाभाविक प्रवाह पाया जाता है। आपकी कविताओं में उमर खैयाम की शैली की विशेष छाप है। आपके कुछ विचारों के सम्बन्ध में साहित्य-मर्मज्ञों में मत भेद उठ खड़ा हुआ था, पर जीवन के मनोहर पक्ष की अभिव्यंजना के द्वारा आपने नवयुवकों के हृदय को मुग्ध कर लिया है। आपकी कविताओं में आशावाद और उत्साह के भाव-भरे रहते हैं और उनका भीतरी मर्म समझ कर ही हम उनका महत्त्व आँक सकते हैं। आपके कई कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।
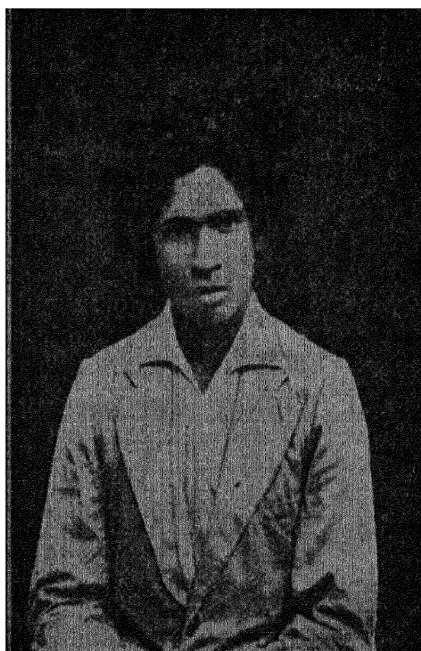
हरिवंश राय 'बच्चन'

हरिवंश राय 'बच्चन'

सुषमा

(१)

किसी समय ज्ञानी, कवि, प्रेमी,
तीनों एक ठौर आये,
सुषमा ही से इन सबने
अपने मन-वांछित फल पाये।

सुषमा ही उपास्य देवी थी
तीनों की त्रय कालों में,

पर विचार सुषमा के सबने
अलग-अलग ही ठहराये !

(२)

'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझको अगर प्रकाश किया।'
'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझे अगर उन्मत्त किया।'

ज्ञानी औ' कवि की वाणी सुन
प्रेमी आहें भर कर बोला,

'सुषमा न थी, नहीं यदि उसने
आत्मसात् कर तुझे लिया।'

(३)

एक व्यक्ति साधारण उनकी

मौन हुए जब तीनों तब वह
उच्च-स्वर से चिल्लाया !
"मूढ़ो, मैंने अब तक उसको
कभी नहीं सुषमा समझा
जिसके निकट पहुँचते ही,
आनन्द नहीं मैंने पाया ?"

(४)

एक बिंदु पर अब तीनों के
मिल जाने की आशा थी
क्या अंतिम ही सबसे अच्छी
सुषमा की परिभाषा थी !

रामधारी सिंह 'दिनकर'

'दिनकर' जी मुंगेर के निवासी हैं और आजकल बिहार सरकार के रजिस्ट्री विभाग में सब रजिस्ट्रार के पद पर काम कर रहे हैं। वर्तमान काल के नवयुवक कवियों में 'दिनकर' जी का सम्माननीय स्थान है। राष्ट्र के अतीत के साथ अन्तर की पीड़ा का संयोग स्थापित करके आप कविता में एक अपूर्व ओज तथा करुणा का संचार करने मे सिद्धहस्त हैं। देश के विगत वैभव का गान और भविष्य के स्वर्ण विहान का स्वप्न आपकी कविताओं के प्रिय विषय हैं। नवयुवकों को आपकी कविताएँ सबसे अधिक प्रिय हैं। शुरू में महात्मा गाँधी के उपदेशों से संकेत ग्रहण करके बहुत दिनों से भूले हुए देहातों की ओर कविता का रुख मोड़ कर आपने काव्य-क्षेत्र में एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है।

एक समालोचक के शब्दों में आप "कल्पना, जवानी, जोश, उमंग और स्वप्नों के कवि हैं।" आपने बिहार प्रान्त और हिन्दी भाषा की गौरव-वृद्धि की है।

'रेणुका' और 'हुंकार' नाम से आपकी कवितकाओं के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर'

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुञ्जीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान।
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ मौन तपस्या लीन-यती !
पल भर तो कर नयनोन्मेष।
रे ! ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !

सुखसिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही
तेरी बिगलित करुणा उदार।

जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार—
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।

उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश !

कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ ;
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ !

पूछो सिकतागण से हिमपति !
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ?
वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी
तू पूछ, कहाँ उसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी?

री कपिलवस्तु! कह बुद्धदेव—
के वे मंगल उपदेश कहाँ?
तिब्बत, इरान, जापान चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ?
ओ री उदास गंडकी! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ?

तू तरुण देश से पूछ अरे!
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग?
अम्बुधि-अंतस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग?

प्राची के प्राङ्गणबीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्नि-ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग यती!

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर!
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर!

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार;
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार!

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैल-राट! हुङ्कार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद!

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल,
नवयुग शंख-ध्वनि बजा रहा
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट!

मेरे भारत के दिव्य-भाल!
जागो नगपति! जागो विशाल!

वन-फूलों की ओर

आज न उडु के नील-कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी
अधरों में मुस्कान न लाली बन कपोल में छाऊँगी
कवि-तेरी किस्मत पर भी मैं आज न अश्रु बहाऊँगी।

नालन्दा वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवन स्वर्ग-ग्रामों में कर पाई न विहार !

आज यह राज-वाटिका छोड़
चलो कवि ! वन-फूलों की ओर !

चलो जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल भूलता भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्योति पसार
चले शून्य में सुरभि छोड़ कर कितने कुसुम कुमार।

कब्र पर मैं कवि ! रोऊँगी
जुगुनू - आरती संजोऊँगी !

कवि ! आसाढ़ की इस रिमझिम में धन-खेतों में जाने दे
कृषक-बालिका के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दे
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दे
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दे
मैं बच्चों के संग जरा खेलूँगी दूब-बिछौने पर
मचलूँगी मैं जरा इन्द्र-धनु के रंगीन खिलौनों पर
तितली के पीछे दौडूँगी, नाचूँगी दे-दे ताली
मैं मकई की सुरभि बनूँगी, पके आम फल की लाली !

वेणु-कुंज में जुगनू बन मैं इधर-उधर मुसकाऊँगी
हर-सिंगार की कलियाँ बन कर वधुओं पर झड़ जाऊँगी
सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धरकर हल
तब दूँगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगा जल

उनके तन का दिव्य स्वेद-कण बनकर गिरती जाऊँगी
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊँगी !
ऋण-शोधन के लिये दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी !

इतने पर भी धनपतियों की होगी उन पर मार
तब मैं बरसूंगी बन बेबस के आँसू सुकुमार !

फटेगा भू का हृदय कठोर
चलो कवि ! वन-फूलों की ओर

कलक्टर सिंह 'केसरी'

'केसरी' जी शाहाबाद जिले के रहने वाले हैं। आजकल आप पूसा (दरभंगा) के हाई स्कूल में अध्यापक हैं। आपकी कविताएँ जीवन के सौन्दर्य तथा सुख-दुखों का मार्मिक प्रदर्शन करके सहृदयों को विमुग्ध कर देती हैं। आपका भावोन्माद अपूर्व है। आपकी कविताओं में संस्कृत काव्य की कोमल भाव-प्रवणता की सुन्दर झलक रहती है।

कलक्टर सिंह 'केसरी'

मुसकान

देखे हैं मैंने फूल, किन्तु उनकी छवि में वह बात नहीं।
चाहिए नाम कुछ और, अरे! यह हँसी नहीं मुसकान नहीं॥

चू-चू पड़ती जो अधर-पल्लवों से गुलाब-सी रस-भीनी
खिचती, छिपती कंचन विद्युत्-रेखा-सी जो झीनी-झीनी॥
क्या कहूँ इसे? थक गया खोज, मिलता इसका उपमान नहीं।
चाहिए नाम कुछ और, अरे! यह हँसी नहीं, मुसकान नहीं॥

यह हलकी सी लाली मुँह की, या इसे पुलक-जलजात कहूँ?
यह किलक कि इसे अमिय की प्रिय रिमझिम रिमझिम बरसात कहूँ?
ओ हँसने वाले! तुम्हीं बता, तुम राज-हंस किस छवि-सर के?
आये बिखेरने यों मोती प्राणों में राशि-राशि भर के॥

मेरे मधुवन के हरिचंदन! इस नन्हे-से संपुट-स्वर में—
लाये कैसे तुम यह नंदन, दो पत्रों के मधु मर्मर में?
मेरा चुम्बन, मेरा दुलार-पुचकार, आज साकार बना।
इस एक किलक में गूँज एक कविता मेरा संसार बना॥

मेरे सुहाग के दीप! हास तेरा मेरा मधुमास बना।
मेरा सनेह तुम में खिल जग-मंदिर का अमर प्रकाश बना॥
फिर हँस दो मेरे चन्द्र! हँसूँ मैं, मेरा पारावार हँसे।
दुख भी हँस दे, इस हँसी-खुशी में एक नया संसार बसे॥

यह परम पिता की देन, मर्त्य में इसका कुछ प्रतिदान नहीं।
चाहिए नाम कुछ और अरे! यह हँसी नहीं, मुसकान नहीं॥

गोपाल सिंह नेपाली

नेपाली जी बेतिया (चम्पारन) के निवासी हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करने में नेपाली जी का हिन्दी काव्य क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है। इनके वर्णन हमारे हृदय में प्रकृति की ओर ममतापूर्ण आकर्षण
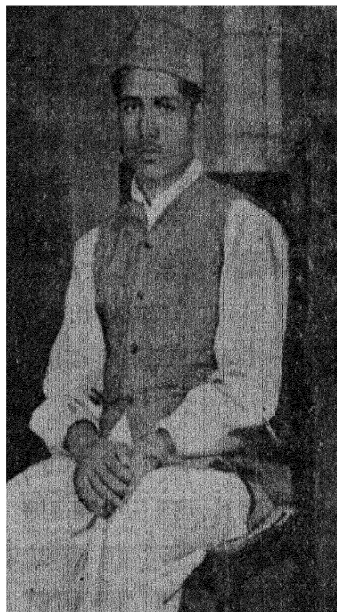
गोपालसिंह नेपाली

उत्पन्न कर देते हैं। हिन्दी में यह विषशेता विरले ही कवियों में पाई जाती है। आपकी भाषा तथा भाव दोनों ही सहज, सुकुमार तथा स्वाभाविक होते हैं। 'उमंग', पंछी' तथा 'रागिनी' नाम से आपके कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

गोपाल सिंह नेपाली

पीपल

१

कानन का यह तरुवर पीपल
युग-युग से जग में अचल अटल
ऊपर विस्तृत नभ नील-नील, नीचे वसुधा में नदी झील
जामुन, तमाल, इमली, करील
जल से ऊपर उठता मृणाल, फुनगी पर खिलता कमल लाल
तिर तिर करते क्रीड़ा मराल
ऊँचे टीले से वसुधा पर, झरती है निर्झरिणी झर-झर
हो जाती बूँद-बूँद झरकर
निर्झर के पास खड़ा पीपल, सुनता रहता कलकल-छलछल
पल्लव हिलते ढलमल-ढलमल

२

पीपल के पत्ते गोल-गोल
कुछ कहते रहते डोल-डोल
जब-जब आता पंछी तरु पर, जब-जब जाता पंछी उड़कर
जब-जब खाते फल चुन-चुनकर
उड़ती जब पावस की फुहार, बजते जब पंछी के सितार
बहने लगती शीतल बयार
तब-तब कोमल-पल्लव हिल-डुल—गाते सरसर मर्मर मंजुल
लख लख, सुन-सुन विह्वल बुलबुल
बुलबुल गाती रहती चह-चह सरिता गाती रहती बह-बह
पत्ते हिलते रहते रह रह

३

जितने भी हैं इसके कोटर
सब पंछी गिलहरियों के घर
संध्या को जब दिन जाता ढल, सूरज चलते हैं अस्ताचल
कर में समेट किरणें उज्ज्वल
हो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील कोक
अँधियारी संध्या को विलोक
भर जाता है कोटर-कोटर, बस जाते हैं पत्तों के घर
घर-घर में आती नींद उतर
निद्रा ही में होता प्रभात, कट जाती है इस तरह रात
फिर वही बात रे वही बात

४

इस वसुधा का यह वन्य प्रान्त
है दूर अलग एकान्त शान्त
हैं खड़े जहाँ पर शाल, बाँस चौपाये चरते नरम घास
निर्झर सरिता के आस-पास
रजनी भर रो-रोकर चकोर, कर देता है रे रोज भोर
नाचा करते हैं जहाँ मोर
है जहाँ वल्लरी का बन्धन, बन्धन क्या, वह तो आलिंगन
आलिंगन भी चिर आलिंगन
बुझती पथिकों की जहाँ प्यास, निद्रा लगजाती अनायास
है वहीं सदा इसका निवास

भाई-बहन

तू चिनगारी बनकर उड़ री, जाग जाग मैं ज्वाल बनूँ ;
तू बन जा हहराती गंगा, मैं झेलम बेहाल बनूँ।
आज बसन्ती चोला तेरा, मैं भी सज लूँ, लाल बनूँ ;
तू भगिनी बन क्रान्ति कराली, मैं भाई विकराल बनूँ।

यहाँ न कोई राधारानी, वृन्द्रावन, वंशीवाला :
तू आँगन की ज्योति बहन री, मैं घर का पहरे वाला।

बहन प्रेम का पुतला हूँ मैं, तू ममता की गोद बनी ;
मेरा जीवन क्रीड़ा-कौतुक, तू प्रत्यक्ष प्रमोद बनी।
मैं भाई फूलों में भूला, मेरी बहन विनोद बनी ;
भाई की गति, मति भगिनी की, दोनों मंगल मोद बनी।

यह अपराध कलंक सुशीले सारे फूल जला देना ;
जननी की जञ्जीर बज रही, चल तबियत बहला देना।

भाई एक लहर बन आया, बहन नदी की धारा है ;
संगम है, गंगा उमड़ी है, डूबा, कूल-किनारा है।
यह उन्माद, बहन को अपना भाई एक सहारा है ;
यह अलमस्ती, एक बहन ही भाई का ध्रुवतारा है।

पागल घड़ी बहन-भाई हैं, यह आजाद तराना है ;
मुसीबतों से बलिदानों से पत्थर को समझाना है।

आरसीप्रसाद सिंह

आरसीप्रसाद सिंह जी एरौत (दरभंगा) के निवासी हैं। प्रखर
ुकता, सजीव कल्पना तथा हृदय की वेदना आपकी कविताओं की
ाषताएँ हैं। आवेश में आकर आप कभी कभी उत्साह-मय वीर-भावना
भी अपूर्व सृष्टि करते हैं। आजकल हिंदी की शायद ही कोई पत्रिका
जिसमें आपकी सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित न होती हों। इधर आपकी
वेताओं का एक संग्रह 'कलापी' नाम से प्रकाशित हुआ है।

आरसी प्रसाद सिंह

आरसीप्रसाद सिंह

जीवन का झरना

[१]

यह जीवन क्या है ? निर्झर है ;
मस्ती ही इसका पानी है।
सुख-दुख के दोनों तीरों से ;
चल रहा राह मनमानी है।

[२]

कब फूटा गिरि के अंतर से ?
किस अंचल से उतरा नीचे ?
किन घाटों से बह कर आया
समतल में अपने को खींचे ?

[३]

निर्झर में गति है, यौवन है ;
वह आगे बढ़ता जाता है।
धुन एक सिर्फ है चलने की—
अपनी मस्ती में गाता है।

[४]

बाधा के रोड़ों से लड़ता ;
वन के पेड़ों से टकराता।
बढ़ता चट्टानों पर चढ़ता ;
चलता यौवन से मदमाता।

[५]

लहरें उठती हैं, गिरती हैं ;
नाविक तट पर पछताता है।
तब यौवन बढ़ता है आगे ;
निर्झर बढ़ता ही जाता है।

[६]

निर्झर में गति ही जीवन है ;
रुक जायेगी यह गति जिस दिन।
उस दिन मर जायेगा मानव,
जग-दुर्दिन की घड़ियाँ गिन-गिन।

[७]

निर्झर कहता है—"बढ़े चलो !
तुम पीछे मत देखो मुड़कर।"
यौवन कहता है—"बढ़े चलो !
सोचो मत होगा क्या चलकर।"

[८]

चलना है केवल चलना है ;
जीवन चलता ही रहता है।
मर जाना है रुक जाना ही ;
निर्झर यह झरकर कहता है।

तितली

तितली, तितली ! कहाँ चली तुम
नन्दन-वन की रानी-सी ?
वन-उपवन में गिरि-कानन में
फिरती हो दीवानी-सी ?
फूल-फूल पर अँटक-अँटक कर
करती कुछ मनमानी-सी !
पत्ती-पत्ती से कहती कुछ
अपनी प्रणय-कहानी - सी

यह मस्ती, इतनी चंचलता
किससे अलि तुमने पाई ?
कहाँ जा रही हो इस निर्जन
मंदिर उषा में अलसाई ?
सोते ही सोते मीठी-सी
सुधि तुमको किसकी आई ?—
जो चल पड़ीं जाग तुम झटपट
लेते लेते अँगड़ाई ?

× × ×
× × ×

उड़ती हो जब मुक्त-गगन में
सांध्य-जलद के तुम पर खोल,
उठ जाती सौन्दर्य-सिन्धु में
अचिर तरंगावलियाँ लोल !

कल्पना की छाया में
को पावस हिन्दोल
अभी तक झूल रही है
न, तुम्हारी छवि अनमोल !

अरी स्वर्ग की परी, उतर तुम
कैसे पड़ी विजन वन में ?
हाय, छोड़ मन्दार-तल्प को
कहाँ आ गई निर्जन में !
क्या श्मशान, क्या कुसुम-कंज;
तुम कुछ न सोचती हो मन में !
हे कोमल-पद-गामिनि, विचरो
मत इस कंटक - कानन में !

× × × ×
× × × ×

फूलों-फूलों से रस लेकर
सखि, क्या तुम नित करती हो ?
किस नीरस के हृदय-कोप को
रस से बरबस भरती हो ?
कौन भाग्यशाली है वह, जिस पर
निशि-दिन तुम मरती हो ?
हरती हो अलि, किसकी सुध-बुध
जब स्वच्छन्द विहरती हो ?

करती हो तुम कहाँ वास ? किस
कलस्विनी सरिता के तीर ?
किस वानीर-कुंज में निर्मित
आलि, तुम्हारी मंजु कुटीर ?

बहता है क्या सजनि, र
मन्द मन्द स्वर्गीय स
क्या खाती हो? क्या पीतं
किस वापी का निर्मल न

× × ×
× × ×

सतरंगी अम्बर - विमान - सी
नीली, पीली औ' काली;
डगमग क्यों करती हो मलयज के
झोंकों में मतवाली?
इन्द्रधनुष - निर्मित - तरनी - सी
पुलकित कर डाली - डाली
हरियाली के तोयधि में खे
रहा कौन तुमको आली?

× × × ×
× × × ×

आओ, आओ, कुसुमित कर सखि!
उपवन की क्यारी क्यारी
बैठो मेरे भाव लोक पर
तुम त्रिलोक से हो न्यारी!
राजदुलारी, तुम पर सुरपुर की
परियाँ हों बलिहारी!
बिठा भारती मन्दिर में
आरती उतारें सुकुमारी!